

UNIVERSAL  
LIBRARY

OU 182668

UNIVERSAL  
LIBRARY



OUP—68—11-1-68—2,000.

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H 801.9  
V 65 K

Accession No. H 352

Author विद्यालंकार, रामपाल .

Title दशमोन्द की औचित्य दृष्टि . 1

This book should be returned on or before the date  
last marked below.

---



OUP—68—1' 1-68-

बालकृ.

...स'

*whose alone Ūrmilā was.*

# क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि

:

औचित्य-विचार-चर्चा

का

प्रामाणिक संस्करण तथा स्पष्टीकरण

रामपाल विद्यालंकार

२९ फ़रवरी १९६० : १८ फाल्गुन २०१६

सोम

शुबल तृतीया

## A SECOND SENSE : A RE-CRITICISM

*Probably the most stimulating 'criticism of a critic' in the whole tradition of Indian Poetics one might come across and, then, such as is sure to strike a trail of suggestions even for us westerners. Sanskrit scholiasts, you will excuse my first reaction, have yet to disabuse themselves of the superstition that Kṣemendra's was just one of the so many Schools that were coming and going with the monsoons in mood. I, for one, on the other hand feel—thanks to your re-touches with persistence reviving dead words in this masterly (the pithiest come my way over decades) thesis, I feel—that K. by his new currency had meant Sense (not just aesthetic sense or poetic sense), a second sense—ucathasya navyaḥ which alone has the inquisitiveness (being not specialised-narrow) for looking beyond mere sensibilities.*

*sampradāyebhyo nir-vidya dṛṇmayena tiṣṭhāset.*

*And in that strain, now I realize how you read the clue to Kṣemendra in the word for eyesalve wherewith he starts on his journey of sensitivities new. Nor have you forgotten to tell us that this añjana too is secondary, equally secondary, something suggestively implanted by Nature into a woman's dressing-room.*

*I propose an English version of your illuminating disquisition was made available for the non-Hindi world as well.*

—Aagaraard Bōswen

(Another opinion on jacket-p. 3)

सर्वाधिकार

प्रकाशक  
श्रीतीलाल बनारसीदास  
पटना

मुद्रक  
स्वतन्त्र नवभारत प्रेस  
पटना

आचार्य का अच्युत स्थायिभाव

## औचित्य-बुद्धि

1. औचित्य हमारे क्रियाकल्प का, दैनिक जीवन का, अविभाज्य अंग है। यह न हो, तो—कोई लोक-व्यवहार सरे नहीं; हमारी गतिविधि में कहीं-भी कलात्मकता न आ सके; प्रकृति की निरन्त सुषमा में हम सौन्दर्य-बोध से वञ्चित ही रह जायं।

—औचित्य (प्रकृति की निरन्त) सुषमा में स्थायी है।

2. वस्तु-जगत् के याथातथ्य को स्व-गत करने के लिए भी जिस अ-परिहेय दृष्टि-समता की अपेक्षा होती है वह भी बिना औचित्य-बुद्धि के असंभव है। यह औचित्य-बुद्धि (अर्थात् विवेक-शीलता) मनुष्य का स्वभाव है, लक्षण है।

—औचित्य (अन्तःप्रकृति की निरन्त) सुषमाऽनुभूति में स्थायी है।

3. और—सुषमा और सुषमा-बोध के परिणय का नाम ही तो कला है।

यह औचित्य-बुद्धि तब भी सजग थी—जब कि (उस प्रथम-प्रभात में) कला-बोध को अभी, कोई शास्त्रीय रूप देने का प्रश्न ही मानव-मन में नहीं उठा था; तब भी थी—जब कि अलंकारशास्त्र के उपमादि तत्त्व अभी नाट्यशास्त्र का एक अमुख्य अंग थे; तब भी—जब कि नाट्य तथा काव्य की अपनी-अपनी (यद्यपि उत्पत्ति की ऐतिहासिक दृष्टि में कुछ सापेक्ष) स्व-तन्त्र, विनिश्चित, स्थिति बन गई; तब भी—जब कि, विकास की उत्तरोत्तरी में, नाट्य-विकास, आपूर्ण, काव्यालंकार में क्रमशः-अन्तर्भूत होता गया; और तब भी—जब कि (उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे), कविता के अलौकिक सौन्दर्य को कामिनी के नख-शिव<sup>1</sup> में ही केन्द्रित-पुजित समझते हुए, हमारे 'आचार्य' अपनी आचार-बुद्धि से ही च्युत हो गये !

१ कान्ता-संमिततया उपदेशयुजे ।

साहित्यं नाम—कान्तिः, कान्तया-संमितिः, सह-नौ भावः ।

—औचित्य कला में स्थायी है ।

## I

### क्षेमेन्द्र से पूर्व

4. कला के लिए ही हमारा सबसे पुराना नाम, शायद, अलंकार था : अलं-कार—अर्थात् (आन्तर) कल्पना को उसी के अनु-रूप, उचित रूप में, (नाह्य) अभिव्यञ्जना, वस्तु की वि-लक्षणता को उभारने के लिए उमे कृच्छ साज-संवार (बस एक 'फिनिशिंगटच'-सा कुछ) दे-देना ।

लौकिक संस्कृत में कलात्मकता के प्रथम (ऐतिहासिक) बोध की साक्षी हम संस्कृत नाट्य-समीक्षा में पाते हैं । नाटक को उन दिनों कहते भी रूप-क थे ; और एक रूप-क की सारी सफलता भी तो एक इसी बात पर ही अवलम्बित हुआ करती है कि क्या देखने वालों को, संमुख दृश्य पर दृश्य आते देख, एक भ्रान्ति-सी<sup>१</sup> नहीं हो जाती कि हम अयोध्या में चल फिर रहे हैं, सचमुच रामराज्य में (एक और ही जमाने में)<sup>२</sup> रह रहे हैं, सीता की मुक, निःशब्द, वेदना के साक्षी हैं . . . '

निःशब्द—ओर, इसी लिए, (साधारणीकरण द्वारा), स्वयं द्रष्टा के लिए भी अनिर्वचनीय : क्योंकि—तब 'वाङ्मय', जैसा कि हम ऊपर संकेत छोड़ आये हैं, 'दृङ्मय' का ही एक उपकारी अंग मात्र था ।

भरत की औचित्य-बुद्धि, स्वभावतः, अभिनय में वेष-विन्यासादि द्वारा कथा-पात्र आदि की अनुरूपता प्रस्तुत करने में—एक इन्द्रजाल-सा बुन देने में—ही सान्त है ।

—औचित्य (दृङ्मय में स्थायी है, रस की भ्रान्ति में स्थायी है,) नाट्य में स्थायी है ।

१ रसो (वं ब्रह्म) :

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राऽरूढानि मायया ।

२ लोकाल्लोकान्तरं-गमिः । लोकप्रमाणत्वात्, अनुकरणस्वभावत्वाच्च अभिनयस्य (याथार्थ्येन ! ) ।

5. भारतीय काव्य को अलंकारशास्त्र की व्यापक भूमिका में, दृश्य एवं श्रव्य के दो उपभेदों में प्रतिष्ठित करते हुए, भरत के 'वाचिक अंग' को एक स्वतंत्र प्रतिष्ठा देने का श्रेय भामह को है; और भामह ने ही, संभवतः, सर्वप्रथम यह दरशाया था कि अवस्था-विशेष में वही दोष (यदि कवि में नपे-तुले<sup>१</sup> शब्दों में ही सब-कुछ कह देने की कुशलता है, तो) गुण भी बन सकता है।

इसी आधार पर, आगे चल कर, विश्वनाथ ने कवि-सम्प्रदाय<sup>२</sup> के 'कोरे झूठ' को भी काव्य का अंग माना है, और भोज ने तो ऐसे 'वैशेषिक' गुणों की एक वैज्ञानिक सूची भी तैयार कर छोड़ी है !

**औचित्य (वाङ्मय में स्थायी है, श्रव्य में स्थायी है,) काव्य में स्थायी है।**

१ साहित्यं तुल्य-कक्षत्वेन अन्यनाऽनतिरिक्तत्वम् ।

२ न-हि तेषु वाच्यतां कुवित् पश्यामः—कविस्पृष्टिकया खलु उपस्कृत्य तेषां परमलंकारित्वसिद्धेः ।

6. नपे-तुले शब्दों में किसी आशय को प्रस्तुत करने का अर्थ होता है कि—

a. शृङ्गार, विप्रलम्भ और करुण को (रस के नाम से नहीं) माधुर्य-व्यंजक पदों से, और वीर, रौद्र तथा भयानक को उद्दीपक वर्णों द्वारा—**गुणौचित्य** के साथ—यथोचित वर्णित करना;

b. रस को इतना अधिक भी बार-बार न उभारा जाय कि वह **विरस**<sup>१</sup> ही लगने लगे, न शालीनता में इतना-अधिक अंश उसका अनकहा ही छोड़ दिया जाय कि जो कुछ बच रहे **नौरस** ही लगने लगे;

c. वाक्य-विन्यास में समस्त-असमस्त **संघटना** की उपयुक्तता वक्ता, वाच्य तथा विषय की संगति पर आश्रित होती है;

d. प्रबन्ध में **अप्रस्तुत** अंग को इतना महत्त्व न दे दिया जाय कि बेचारा पाठक अंगी के अनुसन्धान में ही जी तोड़ दे।<sup>२</sup>

इसी प्रकार—मुक्त में, पर्यायबन्ध में, सर्गबन्ध में, अभिनेयार्थ में; गद्य में, पद्य में; देशाचार में, रीति में, रति में; रस में, वस्तु में अलंकार में; इतिवृत्त में, उत्प्रेक्षा में, सन्ध्यङ्गों में—

औचित्य काव्यांगों<sup>१</sup> में स्थायी है ।

- a. १ मज्जन-पुष्पाञ्जय-सन्ध्या-चन्द्रोदयाऽदि-वाक्यमिह ।  
सरसमपि नाऽतिबहुलं प्रकृतिरसाऽन्वितं रचयेत् ॥ (लोल्लट)
- २ अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं सहृदयतायाः—  
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सो ऽ लंकारो ध्वनी मतः ॥ २.१७  
Cf. Longinus: 'A figure looks best when it escapes one's  
notice that it is a figure.'
- ३ तन्नियमे हेतुः—औचित्यम् । ३.५  
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिपत् परा । ३.१०

b. नाऽमूलं लिख्यते किञ्चित्

**भरत** (२००—३०० : नाट्यशास्त्र)—  
वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेपाऽनुरूपस्तु गतिप्रचारः,  
गतिप्रचाराऽनुगतं च पाठयं, पाठयाऽनुरूपो ऽभिनयश्च कार्यः । १४.६८

**भामह** (६००—७०० : काव्यालंकार)—  
संनिवेशविशेषान्तु दुरुक्तमपि शोभते  
नीलं पलाशमाबद्धम् अन्तराले स्रजामिव ॥ १.५४  
भयशोकाऽभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।  
यथाऽह 'गच्छ-गच्छेति' पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥ ४.१४

**दण्डी** (६००—७०० : काव्यादर्श)—  
अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः  
—यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ॥ ४.१०  
विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्  
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥ ४.५७

**रुद्रट** (८००—९०० : काव्यालंकार)—  
अनुकरणभावविकलम् असमर्थाऽदि स्वरूपतो-गच्छत्

न भवति दुष्टम्—अ-त्तादृक् । ५.४७

भ्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहारा-ऽकार-वेष-वचनानाम्

—देश-कुल-जाति-विद्या-वित्त-वयः-स्थान-पात्रेषु ॥ ११.९

आनन्दवर्धन (८००-९०० : ध्वन्यालोक) —

न-ह्यनौचित्यादृते किञ्चिद् रसभंगस्य कारणम् ॥

राजशेखर (१००-१००० : काव्यमीमांसा) —

अन्यूनाऽनतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यऽवस्थितिः (साहित्यम्) । १.१७

## II

### क्षेमेन्द्र में

7. क्षेमेन्द्र से पूर्व अलंकारशास्त्र में औचित्य की स्थिति को हम आनन्दवर्धन की स्थापनाओं में संहत देख सकते हैं:—

१. भरत तथा भामह के नाट्य एवं काव्य-गत औचित्य का एक व्यापकतर भूमिका में संनिवेश तथा, विश्लेषण द्वारा उसका काव्यांगों में, वर्गीकरण (ध्वन्यालोक में मिलता है) ; जिसके द्वारा कि—

२. यह औचित्य रस-ध्वनि का उपकारक बन गया प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त, आनन्द स्वयं ('ध्वनिरात्मा' काव्यस्य' के) नवीन सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक थे; किन्तु—

३. जब ध्वनि की इतिकर्तव्यता ही 'रस-ध्वनि' में पर्यवसित हो जाती है, तो स्वयं ध्वनि 'रस आत्मा काव्यस्य' का एक साधन मात्र बन कर रह जाती है; और, सो—

४. औचित्य का वह व्यापक आधार भी, 'अनौचित्य-परिहार' के अतिरिक्त और, कुछ-नहीं रह जाता ।

8. क्षेमेन्द्र ने सारे प्रश्न पर नये सिरे से विचार किया । प्रतीत ऐसा होता है, जैसे, अब तक हमारे आचार्य, प्रश्न के विश्लेषण की बजाय, उल्टे—प्रश्न के

समाधान में अधिक जुटे रहे। बिना मूल प्रश्न को सामने रखे क्षेमेन्द्र के विश्लेषण को और (तदनुसार प्रवर्तित) दृष्टिकोण को समझ सकना असंभव है (मूल प्रश्न था : काव्य में—किसी भी कला में—कमनीयता का राज क्या होता है ?) :

४. कवि का कर्तव्य अनौचित्य-परिहार करके ही **सूत्र नहीं** हो जाता; कवि का मुख्य कर्तव्य, बल्कि, (अनौचित्य परिहार के अनन्तर) कुछ नूतन औचित्य प्रतिष्ठित करने-के साथ आरम्भ होता है।
३. आचार्य का कर्तव्य, उसी प्रकार, काव्यांगों (अलंकार-रस-ध्वनि-वक्रोक्ति-रीति) में आत्मा की खोज करना नहीं होता; हमारी समीक्षा का ध्येय तो, बस, इतनी परीक्षा-भर करना होता है कि 'विचाराधीन कृति में रस, ध्वनि आदि अंगों का निर्वाह किस प्रकार हुआ है ?'
२. इसी प्रकार, प्रश्न रस तथा ध्वनि की परस्पर सापेक्षता का भी नहीं है; क्योंकि—रस, ध्वनि, रीति इत्यादि—(ये) सब काव्य के अंग हैं; अंगी नहीं।
१. औचित्य काव्यांगों में तो होना ही चाहिए; किन्तु काव्य में औचित्य का मूल-स्रोत कवि का हृदय होता है—यह भी हम भुला न छोड़े।  
**औचित्य कवि (—हृदय) में स्थायी है।**

9. अर्थात्, क्षेमेन्द्र की आचार्य-बुद्धि का सार एक शब्द में (आचार-दृष्टि अपिवा) औचित्य-दृष्टि है :—

समीक्षक की जांच या परीक्षा का विषय सिर्फ यह होता है कि 'क्या कला-कृति में हर चीज का निर्वाह सही-तर्माज के साथ हुआ है?' एक कविता में वह तर्माजो-खूबसूरती कवि-हृदय के मूक सौन्दर्य की एक प्रतिच्छाया मात्र हाती है। सारे औचित्य की मूलभूमि कलाकार का हृदय है : कला में, अर्थात् कलाकृतियों में, यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु अन्तर्मय है तो वह कलाकार की ही अन्तरात्मा को एक प्रतिध्वनि के अतिरिक्त (एक प्रतिकृति के अतिरिक्त) और कुछ नहीं होती।

10. इतने-से मौलिक तथ्य को हमारे कवि और आचार्य भुला बैठे। और

नतीजा क्या हुआ ?—(सदियों) काव्याङ्गों में आत्मा की (निरर्थक) खोज : (कविता-) कामिनी के कोई रंग-रूप पर मर-मिटा तो कोई अलंकार-आभूषण पर ; कोई उसकी चाल पर तो कोई उसकी ज़बान और नज़ारिया के बांकपन पर, तीखे-पन पर ; और कोई उसकी छलछल, बेकाबू, बिखरती—रस छलकाती—जवानी पर !

आत्मा अंगी है, वह किसी एक ही अंग तक सीमित नहीं किया जा सकता । दूसरे यह कि—कला की एक कृति में आत्मा का प्रत्यक्ष हम कलाकार की आत्मा के व्यपदेश से ही कर रहे होते हैं : 'क्या जान डाल दी है मिट्टी (के एक ज़रा-से खिलौने) में !'

क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार में कहीं भी आत्मा का, प्राण-प्रतिष्ठा का, जिक्र (एक बार भी, भूल कर भी) नहीं आता । क्षेमेन्द्र के शब्द हैं : रस-जीवित-भूतस्य (औचित्यस्य) ... (वाक्यार्थः) सजीव इव अवभासते—'क्या जान डाल दी है ! कमाल कर दिया है !'

... एक क्षण के लिए हम कलाकार को भुला भी दें, तो-सुन्दरता का आकर्षण वस्तु के 'सदृशं किल यस्य यत्' (उचित-स्थान-विन्यास) तोर में निहित होता है : जिससे कि हमें उस में सजीवता की एक भ्रान्ति-सी हो आती है । और यह तोर तुच्छ-से-तुच्छ चीज़ में भी आ सकता है, होता है—कवि उसका भी उचित-विन्यास कर सकता है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यम् :

किमिव हि मधुराणां मण्डनं ना ऽकृतीनाम् ?

II. आचार्य ने काव्य में आचार-परीक्षा की भूमिका—मीमांसा, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र तथा लोकाचार की चार दृष्टियों से जांच शुरू करते हुए—बांधी है । यह, एक प्रकार से, 'काव्यांग-समीक्षा' की संमत परम्परा का निर्वाह-मात्र है ; और इस में भी—विशुद्ध काव्यशास्त्र के पांच सम्प्रदायों का जिक्र तक न करना (काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति आदि प्रश्न उठाना ही नहीं), क्षेमेन्द्र में, इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि—विश्लेषण करना, बाल-की-खाल उतारना, वर्गीकरण की प्रवृत्ति, प्रायः, समीक्षक को गुमराह कर दिया करती है, अव्यवस्थित कर दिया करती है ।

वैसे—रीति का मूल माधुर्यादि गुण है तो वक्रोक्ति और ध्वनि भी, उसी प्रकार, अलंकार-दृष्टि का ही एक प्रकारान्तर मात्र हैं। 'उदाहरण-प्रत्युदाहरण' में (जो प्रायः एक ही विषय-गत हैं, और, सो परस्पर सम्बद्ध हैं) अलंकारों में यदि उपमा और श्लेष को ही छुआ है तो गुणों में भी माधुर्य और ओज को ही, बस।—रस प्रकरण में अधिक बल शान्त पर ('शान्त' की अच्युत वृत्ति पर, स्थितप्रज्ञता पर) है; रस-मिश्रण से बचने का और उपसर्ग और निपात को सार्थकता के साथ प्रयुक्त करने का, साथ ही 'पर्यायों' को भी पर्यायवत् इस्तेमाल करने से सावधान रहने का— उपदेश है; भवभूति को 'करुण' की नहीं, वीर की, उद्भावन में रससिद्ध माना गया है। . . . .

12. इतना सब विवेचन कर के क्षेमेन्द्र, अन्त में, पुनः अपने उसी मूलप्रश्न पर जाते हैं: 'कला में यह सौन्दर्य, यह आकर्षण, आखिर, आता कहां से है? बेजान मिट्टी में यह जान-सी डाल कौन जाता है?' ३०-३१ की कारिकाओं में—जिन्हें हम 'आचार्य की (निजी) आचार-दृष्टि' कहना पसन्द करेंगे—आचार्य ने, जैसे पुराने पड़-गये उसी विषय को ताजा करते हुए, १० प्रश्न उठाये हैं:—

'क्या कवि कुछ पते की बात भी कह रहा है ?  
 क्या उसका शब्द-शब्द पात्र के व्यक्तित्व से उद्गूर्ण है, सजीव है ?  
 क्या वह अपना अभिप्राय दो-शब्दों में भी कह सकता है?... . . .  
 और—अलमतिप्रसंगे !'

—जैसे कोई साक्षात्कृतधर्मा विभूति, हमारा हाथ पकड़, हमें सीढ़ी-दर-सीढ़ी पहाड़ की चोटी पर ले-जाय और, मन्दिर के अन्दर पहुंचा कर, हमारा वह हाथ छोड़ दे, पीछे से चुपचाप (दरवाजा बन्द कर के) निकल जाय ! :—

झाक झांक मन जी भर के  
 हृदय-कोण में कविवर के  
 —ब्रैठी सृष्टि नयी कर के;  
 जोगिन को जग-रास कहां ?

यह शिवालय, और नहीं, कवि का अन्तर्-हृदय है : जो सब प्रश्नों की चरम-समाधि है, उचित-अवसान' है।

औचित्य कवि-हृदय में स्थायी है ।

अश्रुत् कर्ण श्रुधी हवम् :

बात न कह कर कह जाता हूँ,

कहता-कहता रह जाता हूँ ।

सुना तुमने ?

### III

## क्षेमेन्द्र के बाद

—नाऽनपेक्षितमुच्यते—

क्षेमेन्द्र की आलोचना का मूल सूत्र तत्त्व-स्पर्श का है—जो लव, रावण, हिरण्यकशिपु की पात्रता को हृद्गत कर सकता है, अश्वत्थामा की दुराभिसन्धि में 'स्थेमा' के ही दर्शन करता है, और परशुराम तथा विष्णु के दृष्टि-दोष को उसी-क्षण भांप सकता है; शान्त-रस में—याग की धूनी और भस्म में, उसे वही शान्ति मिली है जो (उसी दूर की संगति के द्वारा) 'दैंट कूँलिंग टच आव एन आइ-सा'ब' में ।

13. क्षेमेन्द्र के बाद, भारतीय कलाकार में तथा कला-समीक्षक में, 'औचित्य की कह नं.' ढं डे थं डे मे वर्ह. जा सव ती है : संवृत वे ए. र. र. आचार्यों (भं. ज १०००-११०० मम्मट ११००-१२००, विश्वनाथ १३००-१४००, जगन्नाथ १६००-१७००) ने औचित्य को बस अनौचित्य-परिहार का ही एक पर्याय, या ज्यादा से ज्यादा गुण-दोष की नित्यानित्य-व्यवस्था का एक आधार, मान लिया प्रतीत होता है, बस ! संस्कृत साहित्य तथा साहित्यशास्त्र के उत्तराधिकारियों. की लीला तो और भी विचित्र थी—साहित्य का अर्थ उन्होंने समझा-ही 'सह-नौ भुनक्तु' : 'कामिनी के नखशिख में जो खुद को गालिब नहीं कर सकता, वह भला कवि बनने के स्वप्न देख कर क्या करेगा ?'

14. 'अब के कवि' और अब-के समीक्षक, दोनों, चोरी के अलावा और कुछ नहीं जानते। 'प्रबन्धार्थ में औचित्य' के प्रसंग में क्षेमेन्द्र ने काव्योपजीविता को हेय नहीं ठहराया था—लेकिन उम्मीद उन्होंने यही की थी कि 'आज का कवि' कुछ नयी उत्प्रेक्षा लाकर, मूल-कथा को एक नयी टर्न देकर, काव्य में कुछ 'रस-बन्धुर छाया' तो ले-आयगा। खैर।

15. और तो ओर, आज दो भारतीय आचार्य, 'एक क्षेमेन्द्र-अनुशीलन' प्रस्तुत करते हुए, लिखते हैं : 'भरत ने औचित्य के सिद्धान्त को नाट्य में सूचित किया, आनन्दवर्धन ने उसका नाट्य और काव्य के उभय क्षेत्रों में परिबृंहण किया, तथा क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व की काव्यमन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा की।' मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा ! अर्थात्—देव-मूर्ति में देवत्व की प्रतिष्ठा ? (आहरण—और वह भी एक अदना पुजारी करेगा ?! )

—महज विचारहीनता का द्योतक है। हम फिर दोहरा दें—क्षेमेन्द्र की सारी विचार-चर्चा में आत्मा व प्राण का कही, शब्दमात्र भी, संकेत नहीं।

16. वैसे, युग की वर्तमान दिशा, कला में भी, मावर्स-आदी रोटी-पानी की ओर और कामुकता एवं नग्नता की ओर 'प्रगति-शील' है जिसे 'आचार्य की आचार-दृष्टि' किसी भी सूरत में उचित करार नहीं दे सकती। कवि-दृष्टि की सार्थकता लाज को ढक देने में होती है और दृष्टि-दोष को (वह कहीं भी हो) खुले शब्दों में फटकार देने में होती है। क्षेमेन्द्र-चर्चा में कुछ उदाहरण माडर्निज़्म की छाप लिये हुए हैं, किन्तु उन पर ग्यारहवीं सदी (के उस आचार्य) की कमेंट्स हम बीसवीं सदी वालों की भी आंखें खोल दें :-

\* सूखे गोयों की आग—कितनी सुखद होती है सरदियों में : जैसे नई बहू का गुस्सा !

दिल को सचमुच भा रही थी, किन्तु उपमा सुनकर बुद्धि ठिठक गई। /)

\* रास्ते चलते-चलते एक कांटा सो'नी के पैर में क्या चुभा कि इधर उसके मुंह से एक 'सी' निकल गई और उधर-से किसी आकारा का मुंह खुल गया : 'वारी जावां, सो'णेओ; इक सी होर !'

सो'नी भोली थी, मुसकरा दी। तभी-चन्द्रकिरणों ने, मानो, जवानी की लाज ढकने की खातिर (कि बेचारी पर एक लम्पट की बुरी नज़र जो पड़ गई थी), उसके चार-दांतों में उलझते हुए... एक चुनरिया-सी बुन दी! 42 24

\* 'एक आंख देख कर ही दुश्मन को खत्म कर दिया !

—तो फिर अवतार लेने की जरूरत भी क्या थी ?

हिरण्यकशिपु इतना हीजड़ा नहीं था । 57

\* विधवाएं जब पति की ताज़ी मौत पर 'हाय वे वीरा, हाय वे शेरा, मेरे सो'णेआ' छाती पीटना शुरू कर देती हैं : लोग समझते हैं तमाशा है, 'या फिर—राम आवाज़ तक ही हूँ। (दिल में अफ़सोस इसे भी नहीं है ! ) 27

\* साहित्य, संगीत, विद्या—कुछ काम नहीं आने के (अगर पल्ले में पैसा नहीं है ) ।

—बस ? एक ही धक्के ने (किस्मत के) सब होश गंवा दिये ? 84

\* रोज़-रोज़ की बेइज़्जती के साथ घर में पेट भरते रहने की बजाय, बेहतर है—कपाल-कुण्डल हो जाओ—भीख मांग कर गुजर कर लो !  
—हसद और बदले (की मँल) से भरा दिल, ओर यह बिराग का दम्भ ! कायर ! 82

आचार्य की 'भावयित्री' प्रतिभा भी तत्त्वार्थ(वि)निवेशिनी है ।

17. आज विज्ञान का युग है, अध्यात्म का नहीं : जिसमें सब्जेक्टिविज़्म हेय है, आब्जेक्टिव-व्यू की ही प्रतिष्ठा है। किन्तु क्षेमेन्द्रीय औचित्य-बुद्धि में दोनों के परिणय में ही कला का जन्म, मरण, विकास—सब-कुछ परिनिष्ठित होना चाहिए। न ब्यक्तिक रुचि की तुच्छता वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को दूषित कर सकती है, और न ही दृश्य(मान) की 'अ-भव्यता' द्रष्टा (की दृग् के काजल) को पतित कर सकती है। ग़लती, शायद, दोनों के 'अुचित स्थान-विन्यास' में—'a wrong angle 'tween the two' में—कहीं है ।

चौवह

18. सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इतने से ही सिद्ध हो जाती है कि मैं आवेश में आकर सामने खिलते फूल को तोड़ नहीं लेता। किन्तु स्वलन का मार्ग कितना सरल है! कालिदास चले तो थे पार्वती के नवयौवन को प्रदीप्त करने के लिए उचित विभाव (उद्दीपन) जुटाने; किन्तु कर्णिकार की निर्गन्धता ने उन्हें विचलित कर दिया— और वो विधाता में ही दोष निकालने लग गये ! वहीं महान् कलाकार जिसने (पहला ही, और एक-ही, भारतीय था वह जिसने) शैवल के स्थान-विन्यास की दृष्टि पायी थी, जैसे, किसी आकस्मिक सफलता या सम्मान से अपनी प्रतिभा खो बैठा है !

19. वैज्ञानिक उसी वस्तु के (व्यवच्छेद में, अंग-अंग के) वर्णन में रत है, तो कलाकार उसे नये-से-नया रूप देकर उपवर्णित करने में, जब कि सन्त का निरवसाद-शांत-आत्माराम जीवन—सुन्दरता में भी शान्त ! —एक अवर्ण्य वस्तु है। सन्त ने यदि कल्याणमार्ग का पथिक बन कर जीवन में पूर्णता, एकता, पा ली है; तो वैज्ञानिक की प्रवृत्ति-प्रगति भी विश्व के अणु-अणु में उसी एकता की प्रत्याशा से ही प्रेरित है। एक कलाकार ही है जो इधर-उधर, जहां-तहां, भटकने में ही आनन्द पाता है : *lost to the world—in his many loves, his many masterpieces !*

और क्षेमेन्द्र के पास इन तीनों प्रवृत्तियों के लिए एक ही शब्द है : 'अनङ्ग-क्रिया, अंजन-कल्प' : क्योंकि—

औचित्य (अनङ्ग-क्रिया में स्थायी है,) अंजन में स्थायी है। सुनते हो ? — 'मैंने कहा : उसे अ-च्युत रहने देना !'

20. 'कवेः कर्म—औचित्यम् । ३८ वृ

१ जिसमें किञ्चित्-सिद्धि—i. महाकाव्यार्थ-चवर्ण द्वारा, ii. 'सहवासः कविवरैः' द्वारा, तथा iii. लोकाचारपरिज्ञान (आब्जर्वेशन) द्वारा—उपलब्ध की जा सकती है। स्पर्धा अच्छी चीज नहीं; iv. उन्मेष-जिगीषा को, हां, कुछ क्षम्य कहा जा सकता है : वह भी—यदि v. 'व्युत्पत्तौ सर्व-शिष्यता' के नम्र-भाव से प्रेरित हो, तभी ।

क्षेमेन्द्र सर्व-शिष्य थे या केवल सर्वज्ञ-शिष्य ? Or : ज्ञ—मनीषि- ?

*It would have been a crime to add the slightest ornament to the story, so like a myth. I have not related a single anecdote of which I am not sure. I have not deformed a single phrase or so much as invented the colour of a dress. The facts are as stated; the quoted words were actually pronounced.*

—Madame Curie by Eve

अथ

क्षेमेन्द्रप्रतिबोधिता

श्रौचित्यविचारचर्चा

उचथस्य नव्यः

तत्र  
क्रमेण

उद्बुध्यस्वाग्ने	:	प्रेरणा
		(१-५)
नान्दी	:	उन्मेष
		१

---

आदी तावत्

औचित्यम्	:	कमनीयता का रहस्य
		२-७
औचित्यविचारः	:	कमनीयता की भूमियां
		८-९b
औचित्यचर्चा	:	कमनीयता की कसौटी पर
		११-२९

पुनश्च

पुनर्विचारः	:	अन्तर्भूमियां
		९८-१०
पुनश्चर्चा	:	अन्तरीक्षा
		३०-३९

---

भारती	:	निमेष
		103
पूर्णाहुतिः	:	परिशिष्ट
		104
यथा वः सु सहासति	:	विसर्जन

## उद् बुध्यस्वा ऽग्ने

- (१) आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाशः काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वर-श्रीः ।  
अभूद् गृहे यस्य पवित्रसत्रम् अञ्छिन्नमग्रासनमग्रजानाम् ॥
- (२) यः श्रीस्वयम्भू-भवने विचित्रे लेप्य-प्रतिष्ठापित-मातृचक्रः<sup>३</sup> ।  
गो-भूमि-कृष्णाऽजिन-वेश्म-दाता<sup>१</sup> तत्रैव<sup>२</sup> काले तनुमुत्ससर्ज ॥
- (३) तस्यात्मजः सर्वमनीषि-शिष्यः श्रीव्यासदासा-ऽपरपुण्यनामा<sup>४</sup> ।  
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश् चक्रे 'नवौचित्य-विचारचर्चाम्' ॥
- (४) श्रीरत्नसिंहे सुहृदि प्रयाते शार्व-पुरं<sup>०</sup> श्रीविजयेश-रायि<sup>५</sup> ।  
तदात्मजस्योदयसिंहनाम्नः कृते कृतस् तेन गिरां विचारः<sup>६</sup> ॥
- (५) यस्यासिः परिवार-कृत्<sup>७</sup> त्रिभुवनप्रख्यात-शीलश्रुतेः  
सर्वस्या ऽवनतेन<sup>८</sup> तेन नितरां प्राप्ता विशेषोन्नतिः ।  
आशाः शीतलतां<sup>९</sup> नयत्य ऽविरतं यस्य प्रतापानलम्<sup>१०</sup>  
तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किला ऽयं कृतः ॥

## प्रेरणा

क्षेमेन्द्र का जन्म कश्मीर के एक सम्पन्न और उदार परिवार में हुआ था । दिन-रात ब्रह्म-सत्र जुटा रहता<sup>१</sup> । पिता (प्रकाशादित्य) ने तो एक ब्रह्ममन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी—जहां<sup>२</sup> षोडशी-पूजा<sup>३</sup> की निरति में उन्हें, एक दिन, ब्रह्म-समाधि मिल गई ! (१-२)

क्षेमेन्द्र अनाथ हो गये । किन्तु हिम्मत न हारी । हर गुरु की शिष्यता स्वीकार की ; किस से कुछ नहीं-सीखा ? कवित्व में उनके दीक्षागुरु थे—वेदव्यास<sup>४</sup> । कितने ही काव्यों की रचना स्वयं की । परन्तु, 'सत्काव्य की पहचान क्या है ?'—इस प्रश्न पर, अभी तक, कुछ स्व-तंत्र<sup>५</sup> चिन्तन<sup>६</sup> उन्होंने नहीं किया था । (३)

उन दिनों कश्मीर में प्रतापी<sup>७</sup> किन्तु विनयी<sup>८</sup> राजा अनन्तबर्मा (१०२८-६३) का राज्य था—राष्ट्र में सर्वतोमुख अभ्युदय और शान्ति<sup>९</sup> का साम्राज्य<sup>१०</sup> ! (५)... रत्नसिंह, जो क्षेमेन्द्र के परम मित्रों में से थे, बीजवेहारा तीर्थ<sup>११</sup> करने सोपुर<sup>१२</sup> की ओर निकल गये और पुत्र (उदयसिंह) को क्षेमेन्द्र के पास छोड़ते गये ।

...उसी एकान्त-चिन्तन तथा बाल-प्रेरणा का प्रसाद है—क्षेमेन्द्र का यह 'औचित्यविचारचर्चा'—परक निबन्ध<sup>१३</sup> । (४)

Colophon

## नान्दी

१

कृता हि वञ्चने<sup>१</sup> वृष्टिर्येनाञ्जनमलीमसा ।  
अ-च्युताय<sup>२</sup> नमस्तास्मै परमौचित्यकारिणे<sup>३</sup> ॥

## उन्मेष

१

उस दिन, जब—आंखों में काजल के मिस—गौवन (की मुग्धता) में, अकस्मात्, 'मोहिनी'<sup>१</sup> उतर आई थी, और बाला को, जीवन में पहली बार, कुछ चैन<sup>२</sup> अनुभव हुआ था ; तभी—

कवि की चेतना में कमनीयता का प्रथम स्पन्दन जागा था ।<sup>३</sup>

वह कैसी अ-मृत<sup>३</sup> वेला थी !

---

मूलपाठ (छपे संस्करणों में) 'कृतारिवञ्चने'<sup>३</sup> है—जिसका अभिप्राय आख्यानवादी प्रायः 'विष्णु (अच्युत) के हाथों असुरों (अरयः) की [ अमृत-पान से ] वञ्चना' समझते हैं ।

# I औचित्यम्

२-३

कृत्वाऽपि काव्यालंकारां क्षेमन्त्रः कविकर्णिकाम् ।  
तत्कलङ्कं विवेकं च विधाय विबुधप्रियम् ॥  
औचित्यस्य<sup>२</sup> चमत्कारकारिणश् चाश्चर्वणे<sup>३</sup> ।  
रसजीवित-भूतस्य<sup>४</sup> विचारं कुरुते ऽधुना ॥

४-५

काव्यस्याऽलमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।  
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्याऽपि न दृश्यते ॥  
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।  
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

परुस्परुपकारक-रुचिर-शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य उपमा-उत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरा-  
ऽलंकाराः, ते ( कटककुण्डलकेयूरहारादिवद् ) अलंकारा एव—बाह्यशोभाहेतुत्वात्<sup>१</sup> ।  
येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नाताः, तेऽपि ( श्रुतसत्यशीलादिवद् )  
गुणा एव—आहार्यत्वात्<sup>२</sup> । औचित्यं-तु, अग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं, स्थिरम्<sup>३</sup>-अविनश्वरं<sup>४</sup>  
जीवितं काव्यस्य—तेन विना अस्य ( गुणालंकार-युक्तस्यापि ) निर्जीवत्वात् । रसेन<sup>५</sup>  
शृङ्गारादिना सिद्धस्य<sup>६</sup> ( प्रसिद्धस्य ) काव्यस्य ( धातुवाद<sup>७</sup>-रससिद्धस्य इव<sup>८</sup> ) तत्  
स्थिरं जीवितम्—इत्यर्थः

# I

## कमनीयता का रहस्य

२-३

आलोचना को अलंकार-निरूपण तथा गुणदोष-विवेक तक ही सीमित रख के 'शास्त्रीय परम्पराएं' तो शायद निभ जाती हैं, लेकिन जिज्ञासा तृप्त नहीं होती; क्योंकि—

आलोचक तो खोजने निकला था—कमनीयता-के-राज्य<sup>१</sup> को, उस मूल (अदृश्य) अन्तस्तत्त्व को : 'जो कि कलाकृति में तो एक (नूतन) सजीवता-सी,<sup>२</sup> और हृदय में एक (अनिर्वचनीय) चमत्कृति-सी, एक आत्मविभोरता-सी<sup>३</sup>, सहसा संचरित कर जाया करता है' ।

४-५

लेकिन काव्य में—कमनीयता आहित करने का यह सामर्थ्य न तो अलंकार-गुण में ही रहा करता है, और न रस में ।

इसी बात को यदि एक रूपक द्वारा प्रस्तुत करना हो, तो :—

कविता और कामिनी—शब्द-अर्थ, अलंकार, और माधुर्यादि : रूप-रंग, आभूषण, और शीलादि । किन्तु, सजीवता ? उसका आवास (इन में) कहां है ?—शरीर में ? बाहरी टीप-टाप में ? आन्तर-गुण-सम्पद्<sup>४</sup> में ? या फिर—छलछल<sup>५</sup>, बेकाबू, जहां-तहां बिखरते यौवन-रस<sup>६</sup> में ? ये सब आनी-जानी चीजें हैं ।... (जीवन के) इन अनित्य (निर्जीव) धर्मों में कुछ नित्यता-सी<sup>७</sup>, स्थायिता<sup>८</sup> की (सजीवता की) कुछ क्षणिक आन्ति-सी<sup>९</sup>, उद्धोषित करने वाला वह परम तत्त्व, वह रसायन<sup>१०</sup>, कौन-सा है ?

## कमनीयता का रहस्य

उक्तार्थस्यैव विशेषमाह—

६

“ उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः ।  
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥

अलंकृतिर् उचितस्थानविन्यासाद् अलंकर्तुं क्षमा भवति, अन्यथा-तु अलंकृति-  
व्यपदेशमेव न लभते । तद्वत्—औचित्याद्-अपरिच्युता गुणा गुणताम् आसादयन्ति,  
अन्यथा-पुनर् अगुणा एव : यदाह—

प्रमा 1] ‘कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,  
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन<sup>१</sup> वा ।  
शौर्येण प्रणते<sup>२</sup>, रिपौ करुणया—ना ज्ञान्ति के हास्यताम् ?  
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नाऽलंकृतिर् नो गुणाः ॥’

किं तद औचित्यम् इत्याह—

७

॥ उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।  
॥ उचितस्य च यो भावस् तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

यत्किल यस्याऽनुरूपं तद् उचितमुच्यते; तस्य भावम् औचित्यं कथयन्ति ।

## ‘जहां जो जंच जाय’

६

अलंकार और गुण—लेकिन ये भी तो—तभी फवते हैं जब कि इनका इस्तेमाल (रूप-रंग को, रस को, निखारने के लिए) कुछ तमीज़ के साथ किया जाय, तभी; वरना, इनका—

‘पैरों में बाजूबन्द’ और शरणागत पर शूरता<sup>१</sup>...की तरह’ [I प्रमा  
—अपनी मज़ाक आप बन जाने का भी डर होता है।

७

कमनीयता भी, शायद, ‘जहां जो जंच जाय’ की जुगती के अतिरिक्त (बुद्धि और योजना के अतिरिक्त)—औचित्य के अतिरिक्त—और कुछ नहीं है।



संकेत

प्रमा (ण)

उ (दाहरण)

प्र (त्युदाहरण)

## II

# औचित्यविचारः

अधुना सकलकाव्यशरीर-जीवितभूतस्य औचित्यस्य प्राधान्येन-उपलभ्यां स्थितिं दर्शयितुमाह—

८-१०

- i. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे, ii. गुणे ऽलंकरणे रसे ।  
iii. क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥  
उपसर्गे निपाते च काले, iv. देशे कुले व्रते ।  
[ v. तत्त्वे सत्त्वे ऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥  
प्रतिभायाम् अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽशिषि ।  
काव्यस्याऽङ्गेषु च प्राहृर् औचित्यं व्यापि जीवितम् ॥ ]

एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु, मर्मसु<sup>१</sup>-इव, काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितम्-  
औचित्यं--स्फुटत्वेन-स्फुरद्<sup>१</sup> अवभासते ।

## II

# कमनीयता की भूमियां

८-१०

वंसे तो औचित्य की इस दृष्टि से काव्य के किसी भी अंग की उपेक्षा के लिए छूट नहीं दी जा सकती; लेकिन, पहले, कमनीयता के कुछ-ही (प्रसिद्ध) उद्भावना-स्थलों का किंचित् (सोदाहरण) परिचय (जिन्हें कि प्राचीन आचार्य मर्मवत्<sup>१</sup> ग्रहण करते आये हैं)—

- i. मीमांसा शास्त्र,      ii. काव्यशास्त्र,  
iii. व्याकरण शास्त्र, तथा iv. लोक-शास्त्र  
की विविध दृष्टियों से

—प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा ।

[ तदनन्तर ही कवि का नूतन—

v. अन्तर्दृष्टिकोण

सावकाश (३०-३९) हो सकता है । ]

### III

## श्रौचित्यचर्चा

११

तेषु उदाहरणानि क्रमेण दर्शयितुमाह—

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर् भात्येकमुचितं पदम् ।

चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं, श्यामेव चान्वनम् ॥

एकमेव उचितं पदं (तिलकायमानं) बिभ्राणा सूक्तिः समुचितपरभाग-  
शोभाऽतिशयेन रचिरताम् आवहति । यथा परिमलस्य—

उ 'मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खङ्ग-धाराऽकुले 1  
नाथा ऽस्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा ।  
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः  
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥'

अत्र 'मुग्धा'-पदेन अथौचित्यचमत्कारकारिणा (शरदिन्दुवदनेव श्यामतिलकेन—  
श्यामेव शुभ्रविशेषकेण) विभूषिता सूक्तिः सकलकविकुल-ललामभूतां विच्छित्तिम्  
आतनोति । न तु यथा धर्मकीर्तेः—

प्र 'लावण्यद्रविण-व्ययो न गणितः, क्लेशो महान् स्वीकृतः, 2  
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश् चिन्ताज्वरो निर्मितः ।  
एषाऽपि स्वयमेव तुल्यरमणाऽभावाद् वराकी हता  
को ऽर्थश् चेतसि वेधसा विनिहितस् तन्व्यास् तनु तन्वता ॥'

अत्र 'तन्व्याः' इति पदं, केवलं शब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं, न कांचिद्

### III

## कमनीयता की कसौटी पर

११

### एक ही पद

(सूक्ति की) सारी कमनीयता सिमेट कर एक पद में भी लायी जा सकती है—जैसे माथे की बिंदिया में।

- I 'मैं तो, नाथ, चारणों के मुख से कब की सुनती आ रही हूँ कि इसकी धार उ में शत्रु की कितनी-ही अक्षौहिणियां डूब मरीं !' और —मुग्धा (रानी) की प्यासी आंखें, वीरान में वहां, पति की तलवार को, किस प्रत्याशा के साथ, एकटक देखती ही रह गई, देखती ही रह गई !'  
—एक ही पद में दुनिया-भर का भोलापन बटोर कर रख दिया !

- 2 सारी सौन्दर्य-सपद् भी उंडेल दी, इतना श्रम भी किया, हर आते-जाते प्र की नींद भी (मुफ्त) हराम कर डाली : किस लिए ?—अगर तन देकर भी तन्वी को 'तन-बर' की तमन्ना में तड़पाना ही दरकार था, मेरे खुदा !  
—'तन्वी' का प्रयोग प्रायः विरह-विधुरता के प्रसंग में ही हुआ करता है। 'सुन्दरी' उपयुक्ततर होता। ज़रा-से अनुप्रास-व्यामोह ने सब-

कमनीयता की कसौटी पर -i.

अथौचित्य-चमत्कारकणिकाम् आविष्करोति । 'सुन्दर्याः' इति पदम् अत्र अनुरूपं स्यात् । अन्यानि वा निरतिशय-रूपलावण्यव्यञ्जकानि । 'तन्वी'-पदं तु विरहविधुर-रमणीजने प्रयुक्तम् अथौचित्यशोभां जनयति । यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'परिम्लानं पीन-स्तनजघन-सङ्गाद् उभयतस् 3

तनोर् मध्यस्या-ऽन्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलता-क्षेपवलनैः

कृशाङ्ग्याः संतापं वदति बिसिनीपत्र-शयनम् ॥'

अत्र सागरिकाया विरहावस्थासूचकं 'कृशाङ्ग्याः' इति पदं परमम्-औचित्यं पुष्पाति ।

१२

वाक्यगतमौचित्यं दर्शयितुमाह—

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम् ।

त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं, शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ॥

औचित्यरचितं वाक्यं काव्यविवेकविचक्षणानाम् अभिमततमम् । यथा मम विनयवल्याम्—

उ 'देवो दयावान्, विजयो जितात्मा, यमौ मनःसंयममाननीयौ । 4

इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमाष्टि<sup>१</sup> यः कीचका-ऽकालिक-कालदण्डम् ॥

धीरः<sup>२</sup> स किर्मीर(जटासुर)ारिः, कुबेर(शौर्य)प्रशमोपदेष्टा ।

दृष्टो हिडिम्बा-दयितः, कुरूणां पर्यन्तरेखागणना-कृतान्तः ॥' (i+ii)

अत्र—भीमस्य भीमचरितोचित-कीचकाऽकालिककालदण्ड-हिडिम्बादयित-आदिभिः पदैर् उन्निद्ररौद्ररसस्वरूपाऽनुरूपो—वाक्यार्थः सजीवऽइव अवभासते । यथा वा राजशेखरस्य—

कुछ चौपट कर डाला ।

- 3 हां, अलबत्ता यहां 'तन्वी' पद भी उतना ही जंच सकता था जितना उ 'कृशांगी': बिरहिन औंधी पड़ी है, 'कुछ जघन और उरोजों के भार से, तो कुछ व्यया की आकुलता में बांहें इधर-उधर पटकने से—फूलों-की-सेज पर एक मुई-सी आ गई है; सिर्फ बीचों-बीच, स्तनान्तर की कृशता के कारण अस्पृष्ट, एक शादल-लेखा-सी अब भी अ-म्लान है !'

१२

### सारी पदावली

और यदि सारे-के-सारे पद ही वाक्य की संगति में  
एक दूसरे से होड़ लेने लग जायं—फिर तो, जैसे,  
सोने को सुहागा लग गया !

- 4 'युधिष्ठिर की कारुणिकता, अर्जुन की आत्मसंयमिता, और नकुल-सहदेव उ की मनस्विता' की विरोधिता में भीम का भुजा को ठोकना'—उसी भुजा को जिस पर कि उसे 'कीचक की अकाल मृत्यु और किर्मीर का जानी दुश्मन होने का, और एकबार तो कुबेर तक को सबक सिखाने का, कौरवोच्छेत्ता तथा हिडिम्बा-पति होने का, गर्व है' : (i+ii)  
—हर शब्द, किस अनूठेपन के साथ, पात्र<sup>३</sup> की धीरोद्धतता एवं रस की रौद्रता का प्रतिपादक बन कर आया है !

कमनीयता की कसौटी पर—i.

- उ 'सम्बन्धी पुरुभूभुजा', मनसिजव्यापार-दीक्षागुहर्, 5  
 गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्, तारावधू-वल्लभः ।  
 सद्योमार्जित (दाक्षिणात्यतरुणी) दन्ता-ऽवदातद्युतिश्  
 चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश् चण्डीश<sup>१</sup>-चूडामणिः ॥'  
 अत्राऽपि—चन्द्रमसः शृङ्गाराऽन्तरङ्गैर् अनङ्गोद्दीपनैः पदैर्निर्वर्तितो—वाक्यार्थः  
 सदर्थ-औचित्य-सामर्थ्येन अत्यर्थम्-अर्थनीयतां प्राप्तः । न-तु यथा अस्यैव—
- प्र 'नाले शौर्य-महोत्पलस्य विपुले, सेतो ममिद्-वारिधेः, 6  
 शशवत् खङ्गभुजंग-चन्दनतरौ, क्रीडोपघाने श्रियः ।  
 आलाने' जय-कुञ्जरस्य, सु-दृशां कंदर्प-दर्पे परम्—  
 श्रीदुर्योधन-दोष्णि विक्रम-नरे<sup>२</sup> लीनं जगद् नन्दतु ॥'  
 अत्र, अतिशयपरकर्कशसोत्कर्ष<sup>३</sup>-सुभटभुजस्तम्भस्य असमुचितेन कुवलयनाल-  
 तुलाऽधिरूपणेन, वाक्यार्थः सोपहासतयेव-निबद्धः परिज्ञायते ।

१३

प्रबन्धाथौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाश्यते ।

गुणप्रभावभवेन विभवेनेव सज्जनः ॥

अम्लान-प्रतिभा-प्रकर्षोत्प्रेक्षितेन ( सकलप्रबन्धार्थाऽप्यायि-पीयूषवर्षेण )  
 समुचितार्थ-विशेषेण महाकाव्यं, स्फुरद्-इव, चमत्कारकारितामापद्यते । यथा  
 कालिदासस्य—

- उ 'जातं-वंशे' भुवनविदिते पुष्करा-ऽवर्तकानां 7  
 जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।  
 तेना र्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूर-बन्धुर् गतो ऽहम्—  
 याञ्छा मोघा वरमधिगुणे ना ऽधमे लब्धकामा ॥'

- 5 'प्यारी, देख रही हो ?—काम-कला के परम-गुरु, नभ-परियों के लीला- उ  
वल्लभ, गोरे-गोरे गालों वाले, आन्ध्र-तरुणियों की दन्तच्छटा में रंगे,  
गौरी-पति<sup>३</sup> के शिरोमणि, दुःप्यन्त के उस छत्रीले भाई-बन्द को'—देख रही  
हो, प्यारी ?'

—संभोग की सारी उद्दीपन-सामग्री बस एक चांद ही को दिखाकर,  
बखूबी, उपस्थित कर दी !

- 6 अतुल पराक्रम के धनी<sup>३</sup> दुर्योधन की भुजा को 'युद्धरूपी समुद्र के सेतु, ५  
लक्ष्मी के विलास-उपधान, जय-दिग्गज के निबन्धन', ...' रूप में  
बखानते-बखानते 'शौर्य-कमल का नालबण्ड' कहने लग जाना :

—इसे कवि की उपहास-बुद्धि समझा जाय या छिछोरपना !

१३

### नयी उद्भावना

किन्तु काव्य में भव्यता, प्रायः, किसी नूतन उद्भावना  
द्वारा ही प्रस्फुटित हुआ करती है—जैसे हार्दिक  
विभक्ति द्वारा आचार में ।

- 7 मेघदूत की भव्य कल्पना का आधार है मेघ में चैतन्य की परिकल्पना : उ  
जिसके लिए—कवि ने उसके 'प्रथित वंश और सौहार्द' का कीर्तन  
करा के उसे सचमुच, पहले, 'अधिगुण' ही सिद्ध किया है :

—मेघ का वह सोया आभिजात्य<sup>३</sup> जाग उठा और वह, 'नन्ही'

कमनीयता की कसौटी पर—i.

अत्र, अचेतनस्य चेतनाऽध्यारोपेण, मेघस्य दौत्ययोग्यता-ऽधानाय प्रथित-  
पुष्करावर्तक(पर्जन्य)-वंश्यत्वम् अमात्य-प्रकृतिपुरुषत्वं च यद् उपन्यस्तं, तेन—  
समस्तप्रबन्धस्य (अभिधानता-उत्प्रेक्षित-इतिवृत्त-एचिरतरस्य) निरतिशयम्-औचित्यम्  
उद्-द्योतितम् । यथा वा भवभूतेः—

उ

‘(नेपथ्ये )

8

यो ज्यमश्वः, पताकेयम्, अथवा वीरघोषणा ।

सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुल-द्विषः ॥ (i)

लवः—(सगर्वमिव) अहो संतापनानि अक्षराणि । भोः भोः, किम् अक्षत्रिया  
मृथिवी ?—यद् एवमुद्बुध्यते । (विहस्य) आः, किं नाम ?—स्फुरन्ति शस्त्राणि !  
(धनुरारोपयन्) :—

ज्या-जिह्वया वलयितोत्कटकोटि-द्रंष्ट्रम्

उद्गारिघोर-घनघर्घर-घोषमेतत् ।

ग्रासप्रसक्त-हसदन्तक-वक्त्रयन्त्र-

जूम्भाविडम्बि-विकटोदरमस्तु चापम् ॥’ (ii)

अत्राऽर्थे, रामायणकथाऽतिक्रमेण-नूतनोत्प्रेक्षिता रामतनयस्य सहजविक्रमा-  
ऽनुसारिणी (शौर्योत्कर्षभूमिः) परप्रताप (स्पर्श)-असहिष्णुता प्रबन्धस्य रस-बन्धुराम्  
औचित्य-छायां प्रयच्छति । न-तु यथा राजशेखरस्य—

प्र ‘रावणः—यत् पार्वती-हठकच-ग्रहणप्रवीणे

9

पाणो स्थितं पुरभिदः<sup>1</sup> शरदां सहस्रम् ।

<sup>2</sup>गीर्वाण-सारकण-निर्मितगात्रमत्र—

तद् मैथिली-क्रयधनं<sup>3</sup> धनुराविरस्तु ॥

जनकः—आविरस्तु समम् अ-गर्भसंभवया सीतया ।’

अत्र ‘आविरस्तु समं सीतया’ इति, जनकराजेन यदुच्यते, तेन अस्य पिशिता-

आंखों में आंसू भर', यक्ष की विरह-कथा सुनने को क्षण-भर रुक गया !

- 8 एक क्षत्रिय की जय-घोषणा और पताका को, उसकी अश्वमेध-यात्रा को, उ कोई दूसरा क्षत्रिय कैसे सहन कर सकता है ? लव का खून खौलना तो स्वाभाविक था ही; धनुष भी उसका तन कर, देखो, जैसे (उसके भी दाढ़, दांत, ज़बान, सब-कुछ है) दुनिया को हड़प जाने को, विकृत हंसी हंसता—कृतान्त का फटता—मुंह बन गया ! (i+ii)

—यहां वाल्मीकि-कथा में क्षात्रधर्म का एक नया रंग (असहिष्णुता) जोड़कर मूल प्रबन्ध को रस-बन्धुर करने में कवि ने प्रतिभा का अद्भुत कमाल कर दिखाया है ।

- 9 रावण उद्धत-शिरोमणि है । वह भले ही (स्वयंवर<sup>१</sup> की पुण्य-वेला में भी) प्र निर्लज्जता के साथ पेश आ सकता है, : 'लेआओ-ना अपने उस दैवी<sup>२</sup> धनुष को (पार्वती के उस घिसे-घिसाये हेयर-क्लिप को) ! देखे लेते हैं !' लेकिन, जनक से तो हमें कुछ शालीनता अपेक्षित थी; उसके मुंह से कैसे निकल गया कि 'हां, भाई, ले आओ शिव'<sup>३</sup>-धनुष को भी, और सीता-को भी' ?

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

ऽशनायं तनया-प्रतिपादनम् अभिमतमिव उपलक्ष्यते । न-च एतद् विद्मः—‘कथं भक्ष्यभूता कुसुमकोमलाङ्गी पुरुषा-ऽशाय प्रतिपाद्यते?’ इति । अनौचित्येन प्रसिद्धेन, घृत्त-वैपरीत्यं परं हृदय-विमंवादम् आदधाति । यथा वा कालिदासस्य—

प्र ‘ऊहमूल-नखमार्गपङ्क्तिभिम् तत्क्षणं हृत-विलोचनो हरः । IO  
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमाम् अवारयत् ॥’

अत्र, अम्बिका-संभोगवर्णने पामरनारीसमुचित-निर्लज्जसज्ज-नखराजि-विराजित-ऊहमूल-हृतविलोचनत्वम् : त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर यदुक्तं—  
तेन अनौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्पाति ।

१४

शृणौचित्यं दर्शयितुमाह—

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः ।

स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगाऽवसरोदितः ॥

प्रस्तुतार्थस्य औचित्ये (ओजः-प्रसाद-माधुर्य-सौकुमार्यादि-लक्षणो) गुणः, काव्ये भव्यः, सौभाग्यवत्तामवाप्तः, सहृदया-ऽनन्दसंदोहम् (इन्दुरिव) स्यन्दति । यथा भट्टनारायणस्य—

उ ‘महाप्रलयमारुत-क्षुभितपुष्कराऽवर्तक- IO  
प्रचण्डघनगर्जित-प्रतिरवाऽनुकारी मुहुः ।  
रवः श्रवण-भैरवः स्थगित-रोदसीकंदरः  
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥’

अत्र, ओजस्विनः भट्टमुकुटमणेरु अश्वत्थाम्नः स्फूर्जद् (ऊर्जित-प्रतापाऽनुरूपं) चाक्यम्, ओजसा (काव्यगुणेन) उदग्रतामवाप्तं, सहस्रगुणमिव विक्रम-औचित्यगौरवम् आवहति । यथा वा भट्टबाणस्य—

—क्या उस कोमलांगिनी को खुद एक पिशाच के हाथ सौंप देने के लिए, उसकी विकृत भूख तृप्त करने के लिए ? भीरु !

- 10 संभोग-निरति पर रति-चिह्नों के आकस्मिक स्पर्श से वामना का पुनः प्र तीव्र हो उठना तो पतित-तम दम्पतियों में भी अशिष्टता का ही द्योतक समझा जाता है; जगदम्बा तथा जगद्गुरु में उसका 'उद्धोधन' करना :  
—कवित्व से पतन की पराकाष्ठा है ।

१४

गुण

काव्य में माधुर्यादि गुणों का संनिवेश अन्तस् को एक सर्वथा नूतन पुलक-सा दे जाया करता है—नई जवानी में जैसे जुन्हाई ।

- 11 'महाप्रलय के तूफ़ान की तरह ज़मीन-आसमान को स्तब्ध कर देने वाला यह उ लड़ाई का बिगुल वीर-शिरोमणि अश्वत्थामा को किस कदर भाता है !'

—ध्वनि की ओजस्विता भी चरित्र की तेजस्विता को ही उकसाया करती है ।

उ 'हारो जलाऽर्द्र-वसनं नलिनी-दलानि 12  
 प्रालेय-शीकरमुचस् तुहिनांशु-भासः ।  
 यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि  
 निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवा-ऽग्निः ॥'

अत्र, विप्ररुम्भभर-भग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना—माधुर्य-  
 सौकुमार्यादि-गुणयोगेन (पूर्णेन्दुवदना-इव) प्रियंवदत्वेन-हृदयाऽनन्ददायिनीं दयित-  
 तमताम् आतनोति । न-तु यथा चन्द्रकस्य—

प्र 'युद्धेषु भाग्य-चपलेषु न मे प्रतिज्ञा 13  
 —दैवं नियच्छति जयं च पराजयं च ।  
 एषैव मे रण-गतस्य सदा प्रतिज्ञा  
 पश्यन्ति यद् न रिष्वो जघनं हयानाम् ॥'

अत्र, क्षात्रवृत्तिरिव, ओजसा (काव्यगुणेन)-अस्पृष्टा सुभटोक्तिर् उचितार्थाऽपि  
 (तेजो-जीवितविरहिता, दुर्गतगृह[गता]दीपशिखेव) मन्दायमाना न विद्योतते ।  
 यथा वा राजशेखरस्य—

प्र 'एतस्याः स्मर-संज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्यो न यः 14  
 स्निग्धेनाऽपि जनेन दाह-भयतः प्रस्थंपचः पाथसाम् ।  
 निर्वीर्यीकृत-चन्दनौषधविधौ तस्मिन् तडत्-कारिणो  
 लाजस्फोटममी स्फुटन्ति मणयः सर्वेऽपि हारस्त्रजः ॥'

अत्र—विरहविधुररमणी-मनोभवावस्था-ऽनुरूपं माधुर्यम् उत्सृज्य—मणयस्  
 ( तडत्-कारिणो ) लाज-स्फोटं स्फुटन्ति : इति ओजःस्फूर्जित-ऊर्जितस्वभाव-  
 अधिवासिता सूक्तिर् (लावण्यपेशलतनूर्-ललितललनेव परुषभाषिणी) झटित्य-  
 नौचित्यं चेतसि संचारयति ।

12 'मोतियों का हार, भीगी चोली, कमल-किसलय, शीतलता छिटकाती उ  
चांदनी, और चन्दन-रस' : ये सुकुमार ईंधन जब हों, तो भला विरहाग्नि  
शान्त होगी या, उलटे, और भड़केगी ?

13 'जीत-हार किस्मत के हाथ में है । क्षत्रिय तो बस एक ही प्रतिज्ञा कर प्र  
सकता है कि मैं पीठ नहीं दिखाऊंगा ।'

—वचन में ओजस्विता का अभाव हो तो चरित्र की ऊर्जस्विता  
भी, खण्डहर के 'अब बुझा कि अब बुझा !' दिये की भांति, अपनी  
किस्मत पर ही रोयेगी ।

14 'विरह-ताप—जो सब शीतल उपचारों को व्यर्थ कर दे, हार के मोतियों प्र  
को खीलों की तरह तड़-तड़ फोड़-बिखेरे, भरे पतीले खौला दे...; और  
तुम हो कि इसकी नव्ज देखने को कहते हो ?!'

—(मनोदशा के अनुकल) अबसर या माधुर्य का, तड़-तड़ की  
अतिशयोक्ति का नहीं, बड़-बड़ का नहीं।

अलंकारौचित्यं दर्शयितुमाह—

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।

पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥

प्रस्तुतार्थस्य औचित्येन, उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपकाऽदिना अलंकारेण सूक्तिश्चकास्ति ( कामिनी-इव उच्चकुच-बुम्बिना रुचिर-मुक्ताकलापेन ) । यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'विश्रान्त-विग्रहकथो रतिमान् जनस्य 15

चित्ते वसन् प्रिय-वसन्तक एव साक्षात् ।

पर्युत्सुको निज-महोत्सव-दर्शनाय

वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवा ऽभ्युपैति ॥'

अत्र, वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेन उपमा, औचित्येन, शृङ्गाराऽवसर-सरसचारु-तरताम् कामपि चेतश्चमत्कारिणीम् आविष्करोति । न-नु यथा चन्दकस्य—

प्र 'खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस् तरु-शिरसि दोलेव रचिता, 16

शिवा तृप्ता-ऽहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता ।

तृषाऽर्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो,

बिलाऽन्वेषी सर्पो हतगज-कराऽग्रं प्रविशति ॥'

अत्र, अनुचितस्थानस्थितायाः पुरुषपिशित-तृप्त-सुप्तायाः शिवायाः—सुरत-केलिक्लान्त-कान्तया उपमा, विच्छाया-इव, परं-वैपरीत्यं प्रकाशयति । यथा वा मालवरुद्रस्य—

प्र 'अभिनववधू-रोष-स्वादः करीष-तनूनपाद् 17

असरलजना-ऽश्लेष-कूरस् तुषार-समीरणः ।

गलितविभवस्या ऽज्ञेवा ऽद्य द्युतिर् मसृणा रवेर्

विरहिवनिता-वक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशाकरः ॥'

१५

## अलंकार

...उपमादि अलंकारों की योजना बाह्य विलास को एक सर्वथा नूतन स्पर्श-सा दे जाया करती है—नई जवानी में जैसे मोतियों का हार ।

- 15 'युद्ध समाप्त हो गया । लोग उत्सव मना रहे हैं । लो, वह (हरदिल- अज्जीज) उदयन भी अपने अभिन्न-हृदय मित्र (वसन्तक) के साथ इधर ही चले आ रहे हैं !'

—'विग्रह, रति, चित्त, वसन्त-क' के श्लिष्ट योग द्वारा कवि ने उदयन को नहीं, मानो, कामदेव को ही पुनः—स-शरीर, स-पत्नीक, स-उल्लास, स-विलास—अवाम के साथ रंग-रलियों में ला शामिल किया है !

- 16 रणभू श्मशान हो गई : 'गीदड़ खून-सनी तलवार से ही लिपट रहा है । प्रा सांप को बिल की राह नहीं सूझती, वह मरे हाथी की सूंड में ही घुसा जा रहा है ।'

—लेकिन सियारी है कि एक 'रति-खिन्ना नारी' की तरह, रजी-पुजी, बे-होश पड़ी है । क्या फूहड़ उपमा दे डाली; और सोने के लिए उसे 'हिंडोला' जुटाया है और वह भी—आसमान में मंडराते पंछियों के मुंह से गिरती आंतों का !

- 17 सर्दी का मौसम : 'ठंडी हवा जो दिल को चीर दे, सूरज है पर गरमी प्रा उसमें नहीं (जैसे गरीबी में सब रोब जाता रहता है), और बिरहिन-सा बेजान चन्दा', एक ही चीज भाती है इन दिनों : 'सूखे गोयों की आग' ।

—लेकिन, उसके लिए भी उपमा ढूंढ निकालने से बाज न आये :

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

अत्र, कोमल-कामिनीकोपेन करीष-कृशानोः सादृश्यं शीतसमय-स्वादुतया हृदयसंवाद-सुन्दरमपि, अनुचितत्वेन, सहस्रैव चेतसः संकोचमिव आदधाति । यथा वा राजशेखरस्य—

प्र चिता-चक्रं चन्द्रः कुसुमधनुषो दग्धवपुषः 18

कलङ्कस् तत्रत्यः स्पृशति मलिनाऽङ्गार-कलनाम् ।

यदेतत् स-ज्योतिर् दरदलित-कर्पूरधवलं

मरुद्भिर् भस्मैतन् प्रसरति विकीर्णं दिशि दिशि ॥'

अत्राऽपि, आनन्दि-सुधाऽवस्यन्द-सुन्दरस्य इन्दोश् चिता-चक्रत्वम्, अनुचिततया, कर्णकटुकम् आतङ्कमिव आतनोति । यस्तु अर्थो हृदय-संवादी, स (यदि अनौचित्य-स्पर्शलेशरहितस्, तद्) अधिकतराम् अलंकार-शोभां पुष्णाति । यथा कार्पटिकस्य—

उ शीतेनोद्बृषितस्य माषशिमिवत् चिन्ता-ऽर्णवे मज्जतः 19

शान्ताऽग्निं स्फुटिता-ऽधरस्य धमतः क्षुत्-क्षामकण्ठस्य मे ।

निद्रा क्वाऽपि विमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता

सत्यान्न-प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ॥'

अत्र, अनौचित्य (स्पर्श) परिहारेण—केवलं हृदयसंवाद-सौन्दर्यमेव स्वादुताम् आदधाति ।

१६

रसोचित्यं दर्शयितुमाह—

कुर्वन् सर्वाऽशये व्याप्तम् औचित्यरुचिरो रसः ।

मधुमास इवाऽशोकं करोत्य ऽङ्कुरितं मनः ॥

औचित्येन भ्राजिष्णुः शृङ्गारादिलक्षणो रसः सकलजन-हृदयव्यापी (वसन्तऽ-इव अशोकतरुम्) मनो अङ्कुरितं करोति ।

‘नई बहू के गुस्से की तरह चस देने वाली’ !—किसका दिल बैठ नहीं जायगा ?

- 18 ‘यह चन्द्रमा नहीं, कामदेव की चिता जल रही है; यह चन्द्र-कलङ्क प्र नहीं, कामदेव की दग्धावशेष, कोयला रह गई, अस्थियां हैं; यह चांदनी नहीं, श्मशानभूमि की हवाओं की बिखेरी उसकी राख है।’

—अमृत सरसाने वाले चन्द्रा की उपमा और अ-भव्य चिता के साथ : कौन क्षम्य कहेगा उसे ? भव्यता की योजना कुछ मुश्किल हो शायद, अभव्यता के परिहार द्वारा स्वभावोक्ति की रक्षा तो हो ही सकती थी :—

- 19 ‘सरदी का मारा इन्सान, फिर चिन्ता में (जैसे समन्दर में डूबती-उतरती उ धान की वाली हो), फटे होंठों से ही बुझते अंगारों को फूंक रहा है, भूख से खुश्क गला, नोंद गायब (जैसे बीबी रूठ गई हो), और रात है कि, भले आदमी को दान-दी जमीन की तरह, खत्म होने में नहीं आती।’

—कुछ भी नहीं जोड़ा, पर रूठी बीबी के स्मरण से अनवस्थित नहीं हुए—अभव्यता में गोते खाने नहीं लगे ।

१६

रस

और शृङ्गारादि रसों का उदयन सम्पूर्ण बहिरन्तस को-ही एक सर्वथा नूतन अभिव्याप्ति-सी, एक सर्वथा नूतन स्फूर्ति-सी, दे जाया करता है—नई जबानी में जैसे बसन्त ।

यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'उद्दामोत्कलिकां विषाण्डुर-रुचं प्रारब्ध-जृम्भां क्षणाद् 20

आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैर् आतन्वतीम् आत्मनः ।

अद्योद्यानलतामिमां स-मदनां नारीमिवाऽन्यां, ध्रुवं,

पश्यन् कोप-विपाटलद्युतिं मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

अत्र, ईर्ष्या-विप्रलम्भरूपस्य शृङ्गाररसस्य (वासवदत्तायाम्-अवेक्ष्यमाणस्य) ललितवनिता-नुल्यतया नवमालिका-लतायां विरहावस्था-ऽरोपणेन, नितराम्-औचित्य-रुचिर-चमत्कारकारिणी दीप्तिरूपपादिता । यथा वा कालिदासस्य—

उ 'बालेन्दुवक्राण्यऽविकासभावाद् बभुःपलाशान्यऽतिलोहितानि । 21

सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥'

अत्र, पार्वत्यां परमेश्वरस्य अभिलाष-शृङ्गारे वक्ष्यमाणे, प्रथमम्—उद्दीपन-विभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुका-ऽध्यारोपेण, वनस्थली-ललनानां (कुटिल-लोहित-पलाशकलिकाभिर्) उत्प्रेक्षितानि नवसंगमयोग्य-नखक्षतानि परमाम-औचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति । न-नु यथा अस्यैव—

प्र 'वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः । 22

प्रायेग सामग्र्य-विधो गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥'

अत्र—केवल-कर्णिकारकुसुम-वर्णनमात्रेण विधातृवाच्यता-गर्भेणैव (प्रस्तुत-शृङ्गाराऽनुपयोगिना) ...तदुद्दीपन-विभावोचितं न-किंचिद् अभिहितम् ।

शृङ्गार

20 'बगिया में यह—अंगड़ाइयों में खुलती-सी, हवा के झकोरों पर इठलाती, उ नये रंगों में लहराती, कलियों की बहार में फूट उठी—नवमालिका है ? या—जंभाइयों में, आहों में, मुरझा चुकी—कोई बिरहिन है? : जिसकी जवानी ('अपने परदेसी' को अचानक सामने देखकर) बेकाबू हो उठी है!''

—सहसा उदयन के मन में आया : 'क्यों-न ? ( और आज ही, अभी)—वासवदत्ता को जबरदस्ती यहीं खींच लाऊं और (उसके सामने 'निर्लज्जतापूर्वक' एक प्रेमी की अभिप्राय-भरी निगाहों से लता को एक-टुक देखता रह जाऊं !—इंढिया में कैसी लाल-पीली हो उठेगी मेरी प्यारी !—हूं !—अच्छा शुगल रहेगा !'

21 प्रकृति में हर-सू व्याप्त यह लाली—पलाश की अधखिली कोपलों की उ नहीं; पी' के नव-समागम में प्रेयसी की पर्युत्सुक देह पर (द्वितीया के चांद की तरह बांके और उन्मादक)...नख-चिह्न हैं ।

—शिव-समागम के अभिलाष में शराबोर (पार्वती की) आंखों में बसन्त एक प्रेमी के अतिरिक्त और-क्या हो सकता था ?

22 'वसन्त ने आते-ही शिव को स्वलित करने के लिए प्रकृति को उद्दीपनों प्र की रंगस्थली बना दिया ।'

—इस प्रसंग में कर्णिकार के रंगों पर, और गन्धविहीनता पर, दृष्टि पड़ते ही कवि, स्पष्ट ही, च्युत ( तथा, उद्दीपनाभावात्, व्यर्थ विधाता पर दोषारोपण में प्रवृत्त ) होगया प्रतीत होता है !

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

हास्यरसे : यथा मम लावण्यवतीनामिन् काव्ये—

- उ 'सीधु-स्पर्शभयाद् न चुम्बसि मुखम् ?—किं नासिकां गूहसे ? 23  
रे रे श्रोत्रियतां तनोषि विषमाम्—मन्दो ऽसि वेश्यां विना !  
—इत्युक्त्वा मद-घूर्णमाननयना वासन्तिका मालती-  
लीनस्या ऽत्रिवसोः करोति बकुलस्येवा ऽसवासेचनम् ॥'

अत्र, श्रोत्रियस्य अत्रिवसोः (अपवित्र) सीधुस्पर्श-शङ्कासंकोच-निलीनस्य. (शुष्क) बकुलवृक्षस्येव सरसता-ऽपादनाय, वेशविलासिन्या यद् आसवा-ऽसेचनं.. तत्—अङ्गभूत-शृङ्गाररसाऽभास-स्पर्शेन हास्यरसस्य (वराऽसवस्य-इव सहकाररस-वेधेन) स-चमत्कारम् औचित्यम् आचिनोति । यथा वा मम लावण्यवत्यामेव—

- उ 'मार्गे केतकसूचि-भिन्नचरणा सीत्कारिणी केरली 24  
रम्यं रम्यमहो पुनः कुरु विटेनेत्यर्थिता सस्मिता ।  
कान्ता दन्तचतुष्कबिम्बित-शशिज्योत्सना-पटेन क्षणं  
धूर्ताऽलोकन-लज्जितेव तनुते, मन्ये, मुखा-ऽच्छादनम् ॥'

अत्राऽपि हास्यरसस्य (कुटिलविट-नर्माक्ति-वचनौचित्येन शृङ्गाररसाऽभास-अधिवासितस्य) स-चमत्कारः परः परिपोषः समुन्मिषति । न-तु यथा श्यामलस्य—

- प्र 'चुम्बन-सक्तः सो ऽस्या दशनं च्युतमूलमात्मनो वदनात् । 25  
जिह्वामूल-प्राप्तं खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ॥'

अत्र, हास्यरसस्य बीभत्सरसा-ऽधिवासितस्य (लशुनलिप्तस्येव कुसुमशेखरस्य, अतिजुगुप्सितत्वाद्-अनीप्सितस्य) परम-अनौचित्येन चमत्कारस् तिरोहितः । वृद्धा-परिचुम्बने जिह्वामूल-प्राप्तस्य च्युत-दशनस्य, कण्ठ-लोठिनः, ष्ठीवनेन बीभत्सस्यैव प्राधान्यम् (न-तु हास्यरसस्य) ।

हास्य

23 मालती लेटी हुई है और मित्रावसु, उसके ऊपर झुकता, खड़ा है, लेकिन उ रसीले होंठों को उसके चूम नहीं लेता। तभी : 'डरते हो?—शराब न छू जाय ?'—वासन्ती ने पीछे से आंख मारी : 'अच्छे श्रोत्रिय बने हो कि मामूली-सा काम भी, वेश्या की सहायता के बगैर, नहीं कर सकते ? तो यह लो—'

और उसने ब्राह्मण-देवता पर, जितनी मुंह में भरी थी, उगल दी (जैसे सूखा बकुल भी किमी तरह हरा-भरा किया जा सकता हो) ! और इस श्रृङ्गाराभाम ने (वासन्ती के) हास्य को, सचमुच और भी चमका दिया है।

24 रास्ते चलते-चलते एक कांटा सो'नी के पैर में बसा चुभा कि इधर उसके उ मुह से बरबस एक 'सी' निकल गई और उधर-से किसी अवारा का मुंह खुल गया : 'मैं वारी जावां, सो'णेओ, इक सी होर !' सो'नी भोली थी, मुसकरा दी। तभी—चन्द्रकिरणों ने, मानो, जवानी की लाज ढकने की खातिर (कि बेचारी पर एक लम्पट की बुरी नज़र जो पड़ गई थी), उसके चार-दांतों पर फिसलते-हुए...एक चुनरिया-सी वन दी !

—श्रृङ्गाराभास ने हास्य को, एक बार फिर, उठा दिया है।

25 'बुढ़िया की चुम्मी'—सुनते ही हंसी आती है। लेकिन, चूमना भी ऐसा कि ३३ एक खूसट दांत उखड़ जाय और, सीधे, बढब-बनारसी के गले में पहुंचकर ही दम ले कि बचारे की खाट्-खाट् थूकते भी जान न छूटे !

—लेकिन : हास्य पर बीभत्स हावी हो गया (जैसे मौलिक के फूलों में 'लिपटी' लहसन की एक गांस) !

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

करुणे, यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

- उ 'प्रत्यग्नोपनता-ऽभिमन्युनिधने हा वत्स हा पुत्रके- 26  
 त्यश्मद्रावि सुभद्रया प्रलपितं पार्थस्य यत्(तत्) पुरः ।  
 येनोद्वाष्प-विमुक्तशष्पकवलैः सेनातुरंगैरपि  
 न्यञ्चत्पादर्वगतैककर्णकुहरैर् निःस्पन्द-मन्दं स्थितम् ॥'

अत्र—प्रत्यग्नोपनत-प्रियतरतनयवियोग-उपजनितशोकाऽख्य-स्थायिभावोचितं  
 दृषदामपिहृदय-द्रावणं सुभद्रया यत् प्रलपितं, तद् न-केवलम् अर्जुनचेतसि-प्रतिफलितं  
 उद्दीप्ततामुपगतम्—यावत् तिरश्चां तुरंगमाणामपि (अन्तः-संक्रान्तम्) उद्वाष्प-  
 विमुक्तशष्पकवल-निःस्पन्दस्थिता-ऽदिभिर् अनुभावैर् उदीर्ण-तरुणकरुण-रसप्रतिर्पितं  
 किमपि अद्घाति । न-तु यथा परिमलस्य—

- प्र 'हा शृङ्गारतरङ्गिणी-कुलगिरे हा, राज-चूडामणे, 27  
 हा सौजन्य-सुधानिधान, हहहा वैदग्ध्य-दुग्धोदधे ।  
 हा देवोज्जयिनी-भुजंग, युवति-प्रत्यक्षकंदर्प हा,  
 हा सद्-बान्धव, हा कला-ऽमृतकर—क्वा ऽसि ? प्रतीक्षस्व नः ॥'

अत्र—हाहेति हृतमहीपति-विरहे तद्गुण-आमन्त्रपदैर् वक्तृ(वक्त्र)गत एव  
 शोकः केवलम् उपलक्ष्यते । न तु विभावा-ऽनुभाव-व्यभिचारि-संयोगेन  
 शोकाऽख्यस्य स्थायिभावस्य उचितं रसीकरणं किञ्चिद् निष्पन्नम् ।

रौद्रे, यथा भट्टनारायणस्य—

- उ 'यो-यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज-गुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां 28  
 यो-यः पाञ्चाल-गोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।  
 यो-यः तत्कर्म-साक्षी चरति मयि रणे यश्च-यश्च प्रतीपं  
 क्रोधाऽन्धस् तस्य-तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्या ऽन्तको ऽहम् ॥'  
 अत्र—क्रूरक्रोध-स्थायिभावाऽत्मकस्य उन्निद्ररौद्ररसस्य-उचिता शिशु-स्थविर-

करुण

26 अभी-अभी अभिमन्यु की मृत्यु हुई है। सुभद्रा की दर्द-भरी चीख से, उ अर्जुन तो अर्जुन, पत्थर भी दहल जाते : पास खड़े घोड़ों की आंखें (एक मूक निःश्वास के साथ) उमड़ आईं, मुंह से घास छूट गई उनकी, और कान उनके निस्तब्ध लटक गये !

ताज्जी मौत और ताज्जा गम—किस तरह संसार को व्यथ्या में बोर देता है !

27 पति की मृत्यु पर रानी का उसके 'प्रेमालापों को, सोजन्य, वैश्वय को,... प्र गान्धर्व-लीलाओं और काम-कलाओं' आदि को याद कर-कर के निर्वश-रोना स्वाभाविक है; लेकिन, इन स्मृतियों में श्रोताओं को विह्वल करने की क्षमता (अनुभावादि न होने से), विधवा का गम उसकी 'अपनी पीर' बन कर ही रह जायगा —वह एक 'सर्व-संवेद्य रस' हरगिज नहीं बन सकता।

रौद्र

28 पितृवध की निर्घृणता ने अश्वत्थामा को क्रोधान्ध कर दिया है। वह आज उ अपने वश में नहीं—उसकी घोर प्रतिशोध-प्रतिज्ञा उस कुकृत्य के (साक्षियों की हृदयशून्यता के) अनुकूल ही है, वह अब पाण्डव-मात्र की मौत बन कर निकला है: 'अपने शस्त्रास्त्र पर, क्षात्रबल पर, अभिमान करने वाला महारथी हो या निरस्त्र बूढ़ा, बाला, अ-जात—कोई भी हो (लेकिन पाण्डव

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

गर्भगत-विशसन-निस्त्रिंशकर्माऽध्यवसाय-अधिरोहणसंवादिनी द्रोणवधविधुर-अमर्ष-  
(विष) विषम-व्यथा (कश्मल) शिथिलम् अश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति । न-नु  
यथा श्रीप्रवरसेनस्य—

प्र 'दण्डुन्दरुहिरलग्ने जस्स फुरन्ते गहप्पहा-विच्छड्डे । 29  
गुप्पन्ती विवलाआ गलिअब्ब-थणंसुए महासुरलच्छी ॥'

अत्र, क्रोधव्यञ्जकपद-विरहिततया 'दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य नरसिंहस्य स्फुरति  
नखप्रभासमूहे व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुरलक्ष्मीः'—इति  
वर्णनया 'रुधिरलग्ने' इति बीभत्सरससंस्पर्शेन, 'व्याकुलीभवन्ती दैत्य-श्रीः  
पलायिता'—इति भयानकरस-मंकरेण प्रकृतोचितप्रधानभूतस्य रौद्ररसस्य क्वचि  
द्मुखमपि न दृश्यते ।

वीरे, यथा मम नीतिलतायाम्—

उ 'शौर्या-ऽराधितभर्ग-भार्गवमुनेः शस्त्रग्रहोन्मार्गिणः 30  
संक्षेपेण निवार्य संक्षयमयीं क्षत्रोचितां तीक्ष्णताम् ।  
आकर्णा-ऽयतकृष्ट-चापकुटिल-भ्रूभङ्गसंसर्गिणा  
येना ऽन्याय-निषेधिना<sup>1</sup> शममयी ब्राह्मी प्रदिष्टा स्थितिः ॥'

अत्र—'सोऽयं रामः' इति रावणाऽग्रे शुकसारणाभ्यां दूराद्-निर्दिश्यामानस्य  
रामस्य निःसंरम्भ<sup>2</sup>-गम्भीर<sup>3</sup>-अवष्टम्भ-संभाव्यमानप्रभाव-उचितायां ( शस्त्रसंग्रह-  
उन्मार्गगामिनो भार्गवस्य मुनेः स्वजाति-समुचितस्थिति-उपदेशे) प्रभविष्णुतायां सति  
चाप(रूप)भङ्ग्या भ्रू-भङ्गः प्रदर्शितः, न स स्वाभाविकः—<sup>4</sup>वीरस्य क्रोधे विकारा-  
ऽसंभवात् । प्रसन्न-मधुर-धीरा हि वीरवृत्तिः । तद् उचितमत्र अभिहितम् । भार्गवा-

होना चाहिए): साक्षात् 'जग परलौ' बन गया है वह! उसे लिहाज ?

29 भगवान् (नृसिंह) ने, हिरण्यकशिपु से धरा को मुक्त कराने के लिए, **प्र**  
अवतार लिया है : दैत्यराज की छाती फट चुकी है !

—असुरों की महालक्ष्मी को और-आगे देख सकने की हिम्मत नहीं।  
कहां जाकर मुह छुपाये ? वह, बेतहाशा, भाग खड़ी हुई उसकी चोली  
जवाब दे गई...

—अभीष्ट तो था रौद्र रस का परिपाक; परन्तु, (नृसिंह के  
भास्वर नखों को रुधिर-दिग्ध कर के) कवि ने कुछ बीभत्स-स्पर्श की,  
और—हत-संज्ञ रानी के पलायन में 'भयानक' के आमन्त्रण द्वारा कुछ  
—रस-सांकर्य की भी अनिष्टता ला दी है।

### वीर

30 शुक और सारण, दूर खड़े-खड़े ही, रावण को दिखा रहे हैं कि 'यह है **उ**  
राम—जिसने परशुराम की क्षत्रियों को तहस-नहस करने की प्रवृत्ति को  
एक भ्रूभंग द्वारा ही ब्राह्मणोचित शान्ति का उपदेश पढ़ा डाला !'

—किन्तु परिस्थितियों की विषमता में भी अविचाली-गम्भीर,  
एक सदा-प्रसन्न-मधुर, 'धीरोदात्त' पात्र में क्रोध तथा भ्रूभंग का आना  
स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। इस आशंका का परिहार कवि ने 'शिव-  
धनुष के भंग में ही 'भ्रूभंग' के आरोप द्वारा कर दिया है। दूसरे—परशुराम  
भी कोई मामूली पुरुष नहीं थे : कितने वर्ष कठोर तप करके उन्होंने  
जृम्भास्त्रादि को प्राप्त किया था। एक 'राजपि होने की हवस' ही  
उनकी नितान्त अब्रह्मण्य थी और अन्याय्य<sup>1</sup> थी; खैर से, यह दुर्बलता

ऽभिभवेन च प्रधाननायकस्य-उत्कर्षः प्रतिपादितः । यथा वा राजशेखरस्य—

उ 'स्त्रीणां मध्ये सलीलं भ्रमितगुह्यगदा-ऽघात-निर्नष्टसंज्ञः 31  
 सद्यो वध्यो ऽभवस् त्वं पशुरिव विवशस् तेन राज्ञा ऽर्जुनेन' ।  
 तस्य च्छेतापि यो ऽसौ सकल(नृप) रिपुर् जामदग्न्यो भुजानाम्  
 जित्वोच्चैः सोऽपि येन द्विज इति न हतः—तापसस् त्वेष रामः ॥'  
 अत्र रावण-कार्तवीर्य<sup>१</sup>-जामदग्नि-(उत्कर्षोत्कर्षतर)-सोपानपरम्पराऽधिरोहण-  
 क्रमेण प्रधाननायकस्य प्रतापः परां कोटिमारोपितः । न-नु यथा भवभूतेः—

प्र 'वृद्धास्ते न विचारणीय-चरितास् तिष्ठन्तु, 'हुं वर्तताम् : 32  
 युद्धे स्त्रीदमनेऽप्य ऽखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।  
 यानि त्रीणि कुतो-मुखान्यपि<sup>३</sup> पदान्या ऽसन् खरा-ऽयोधने  
 यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने<sup>३</sup> तत्राप्यऽभिज्ञो जनः ॥'

अत्र—अप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रताप (उत्कर्षा)-असहिष्णोर्वीर-  
 रसोद्दीपनाय सकलप्रबन्ध-जीवित (सर्वस्वभूत)स्य प्रधाननायक-गतस्य वीररसस्य  
 ताडकादमन-खररणाऽपसरण-( अन्यरणसंसक्त )वालिव्यापादनाऽदि (जनविहित)-  
 अपवाद्प्रतिपादनेन स्व-वचसा कविना विनाशः कृतः इति अनुचितमेतत् ।

भयानुके, यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'कण्ठे कृता<sup>१</sup>-ऽवशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन् 33 +  
 कान्त्वा द्वाराणि हेला-चलचरणरणत्-किङ्किणीचक्रवालः ।  
 दत्ता-ऽतङ्को ऽङ्गनानाम् अनुसृत-सरणिः संभ्रमाद् अश्वपालैः  
 प्रभ्रष्टो ऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर् मन्दिरं मन्दुरायाः ॥

उनकी राम के स्वभावतः प्रशान्त<sup>१</sup> चरित्र को, विरोधिता के मिस, और भी उज्ज्वल प्रदर्शित कर गई !

- 31 'याद है ? —सहस्र-बाहु<sup>१</sup> से डर कर तुम कभी अन्तःपुर में जा छुपे थे और उसकी गदा के एक ही प्रहार से बेहोश हो गये थे ! लेकिन परशुराम ने उसकी भी सारी भुजाएं काट डाली थीं। और यह हैं राम—तपोमूर्ति राम—जिन्होंने परशुराम को, हरा कर भी, बख्श दिया था कि 'ब्रह्महत्या का पाप मैं नहीं कर सकता' !

—'वीर' के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की पराकाष्ठा: और यह मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित की एक झांकी-भर है।

- 32 'बुजुर्गों के बारे में किसी की जुबान-न-खुलने' में ही सबका भला होता है; क्योंकि उनकी कीर्ति तो—एक औरत को मार कर भी, लड़ाई में तीन बार 'दुम दबाकर भी, पीठ-पीछे से छुरा मार कर भी—अक्षुण्ण ही बनी रहती है !'

—हम लव की पर-प्रताप-असहिष्णुता के कायल जरूर हैं; लेकिन उसे चमकाने के लिए कवि का स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम के वीर-चरित से 'तारका-वध, खर-संवर्ष, तथा बालि-हत्या'<sup>३</sup> का हवाला दिलवाने की अशिष्टता को हम क्षम्य कदापि नहीं कह सकते।

### भयानक

- 33 + घुड़साल से एक बन्दर छूट निकला है और महल में घुसता चला आ रहा है—गले में टूटा हार<sup>१</sup>, पैरों में बेड़ियां और घुंघरू, और फिर उसका वह कितकिटाना और खरोचना। पीछे-पीछे उसके, पकड़ने के लिए, अश्वपाल भी दौड़े आ रहे हैं : औरतें भीगी-बिल्ली बन गईं—दुबकें भी, तो

अपि च—

नष्टं वर्षवरैर् मनुष्यगणनाऽभावाद् अकृत्वा त्रपाम्, +34

अन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासाद् अयं वामनः ।

पर्यन्ता-ऽश्रयिभिर् निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतम्

कुब्जा नीचतयैव याति शनकैर् आत्मेक्षणा-शङ्किनः<sup>३</sup> ॥'

अत्र—अङ्गनानां निशितदशन-नखशिखोल्लेख-आतङ्कदानेन प्रचुरतर-वानरा-  
ऽभिसरण-भयसंभ्रान्त-अन्तःपुरिक-वृद्ध-वामन-किरात-कुब्जाऽदीनां पुरुषगणना-  
विहीनतया धैर्यविरह-कातराणाम् उचितचेष्टा-ऽनुभाववर्णनया भयानकरसमंवादि  
रुचिरम् औचित्यम् आचकास्ति । न-तु यथा (राजपुत्र) मृक्तापीडस्य—

प्र 'नीवारप्रसराऽग्र-मुष्टिकवलैर् यो वर्धितः शैशवे 35

पीतं येन सरोजपत्र-पुटके होमाऽवशेषं पयः ।

तं दृष्ट्वा मदमन्थरा-ऽलिवलय-व्यालोलगण्डं गजं

साऽनन्दं सभयं च पश्यति मुहुर् दूरे-स्थितस् तापसः ॥'

अत्र—गजस्य (आघातक-विकृत) चेष्टाऽनुवर्णना-विरहिततया स्थायिभावस्य  
भया-ऽनुभाववर्जितस्य<sup>१</sup> केवलं नाममात्रोदीरणेन च भयानकरमोचित-<sup>२</sup>मंभ्रमाऽभावाद्  
उपचितम् औचित्यं न-किञ्चिद् उपलभ्यते ।

बीभत्से, यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'सर्वा-ऽपाय-चया-ऽश्रयस्य नियतं कुत्साः निकायस्य कि 36

कायस्या ऽस्य विभूयणैः सुवसनैरानन्दनैश्चन्दनैः ।

अन्तर् यस्य शक्रद्-यकृत्-कृमिकुल-क्लोमा-ऽन्त्रमाला-ऽकुले

'क्लेदिन्य ऽन्तदिने प्रयान्ति विमुखाः कौलेय-काका अपि ॥'

अत्र—वैराग्य (वासना) च्छुरित-बीभत्सरसस्य जुगुप्साऽख्य-स्थायिभावोचित-  
कायगत-कुत्सिततर-आन्त्रतन्त्राऽदि-समुदीरणेन परा परिपुष्टिर् निःसार-शरीरा-  
ऽभिमान-वैरस्यजननी प्रतिपादिता । न-तु यथा चन्दकस्य—

पनाह नहीं।...बूढ़े कंचुकी, बौने, किरात, और कुबड़े—इन्हें इन्सानों में +34  
गिनता ही कौन है? (लाज-शरम छोड़) सबको अपनी-अपनी पड़ी है।

—औरतें तो रहीं ही अ-बला, और बाकियों की जाने बला। डर में  
हर किसी की चेष्टा प्राकृतिक, अपने-अपने अनुरूप ही, जंच रही है।

35 'तापस, दूर खड़ा, हाथी को देख रहा है कि कैसे वह मस्तक पर टूटते प्र  
भीरों को उड़ा रहा है! इसे कभी तापस ने खुद अपने हाथों पाला  
था। आज उमे जवानी में देखकर वह कितना खुश है—और कुछ-  
कुछ डर भी...':

—पर डर पैदा करने वाली परिस्थिति कहां है (हाथी, की वे करतूतें  
कहां हैं)?'

### बीभत्स

36 'क्यों लोग इस मल-मूत्र के पुतले को महंगे-महंगे गहनों, कपड़ों, इतर-खुशबू उ  
से सजाते हैं?—एक दिन जब (मुरदा सड़ने की) नोबत आवेगी, कुत्ते-  
कौवे तक इसे छोड़ भागेंगे।'

—शरीर का सच्चा भेद मालूम पड़ते ही हमारा मन देह-गत  
झूठे अभिमानों से विमुख हो जाता है—वैराग्य में प्रवृत्त हो जाता है।

प्र 'कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छ-विकलः 37

क्षुधा-क्षामो रूक्षः पिठरक-कपाला-र्दितगलः ।

व्रणैः पूति-क्लिन्नैः कृमिपरिवृतैरावृततनुः

शुनीमन्वेति श्वा—तमपि मदयत्येष मदनः<sup>1</sup> !'

अत्र, अशुचि (चर्वण) हचेर् उपचित-विचिकित्सा-कुत्सा-निकाय-कायस्य स्वभाव-जुगुप्सित-योनेः<sup>2</sup> शुनकस्य—किमेतैर् ब्रीभत्स-विशेषणैर् अतिशयनिबन्धा-ऽनुबद्धैर् अधिकमुद्भासितम् ? एतैरेव पुष्पगतैर् जगुप्सा परं-गौरवम् आवहति ।

अद्भुते, यथा चन्दकस्य—

उ 'कृष्णेनाऽम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद् भक्षिता स्वेच्छया !' 38

'सत्यं, कृष्ण ? 'क एवमाह ?' 'मुसली' 'मिथ्या, ऽम्ब, पश्या ऽननम् ।'

'व्यादेही'-ति विकासिते ऽथ वदने दृष्ट्वा समस्तं जगद्

माता यस्य जगाम विस्मयपदम्—तायात् सवः केशवः ॥'

अत्र, ( पाण्डुर-अङ्गकरस-अक्षिलक्षित ) मृद्भूक्षणा-ऽक्षेप-उद्यत-जननी-भय-चकितस्य अपह्लवकारिणः शिशोर्—विकासित-आस्यस्य अन्तः समस्तजगद्-दर्शनेन, मातुश्च तत् प्रभाव-अनभिज्ञतया<sup>1</sup> वात्सल्य-विह्वलाया<sup>2</sup> विस्मय-गमनेन अत्युचितो-ऽयम् अद्भुताऽतिशयः । न-तु यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

प्र 'समस्ता-ऽश्चर्याणां जलनिधिरपारः स वसतिः, 39

ततो ऽप्याश्चर्यं यत्—पिबति सकलं तं किल मुनिः ।

इदं त्वत्याश्चर्यं लघुकलश-जन्माऽपि यदसौ !

—परिच्छेत्तु को वा प्रभवति तवा ऽश्चर्यसरणिम् ॥'

अत्र—अपार-सरित्पति-प्रभावेन, मुनिना तस्य एकचुलक-आचमनेन, मुनेश्च लघुकलशजन्मना, क्रमा-ऽक्रान्तिसमारूढोऽपि असम-विस्मयमयो अयमद्भुतप्रसरः; संसारस्य एवंविधा-एव आश्चर्यसरणिर् अपरिच्छिन्ना<sup>1</sup>, न किंचिद् एतत् कौतुकम्—इति अर्थान्तरन्यास-सामर्थ्येन सहस्रैव (अवरोपित-इव) तिरोभूततामुपगतः ।

37 'इन्द्रियां जवाब दे चुकी है, शरीर गल चुका है, सड़ रहा है, धिनोने प्र.  
कीड़े चिपट रहे हैं; लेकिन—ठरक' अब भी नहीं गई !'

—जिस घृणा को जगाने के लिए यह वर्णन पेश है, उसमें क्या कुत्ते की बजाय (जो कि स्वभाव से ही पतित होता है) ? इन्सान के जरिये वही नफरत बेहतर न जंचती ?

### अद्भुत

38 'मां, मां—कान्हा मिट्टी खा रहा है !' 'सच ?' 'और नहीं तो ?' 'इधर उ.  
आना, कृष्ण, जरा मुंह तो खोलना—क्या भर लिया है? 'और यशोदा—  
बालकृष्ण के मुह में लोकलोकान्तर देख कर चकित रह गई !

—'वह मां ही थी, ना : 'भोली क्या जाने भगवान् की लीला को ?

39 'समुद्र का अपार-अगाध वैभव ! उसे भी एक मुनि एक घूंट में पी प्र.  
जाय ! और मुनि भी वह जो कि एक छोटी-सी घड़िया से जन्मा हो !...'

—'संसार आश्चर्यों का 'अ-पार' प्रांगण है !' जोड़ कर, क'वे  
ने, जैसे आश्चर्य की उस उत्तरोत्तरी को एकदम ठप कर डाला !

शान्ते, यथा मम चतुर्वर्गसंग्रहे—

- उ 'भोगे रोगभयं, सुखे क्षयभयं, वित्ते ऽग्नि-भूभृद्-भयं, 40  
 दास्ये स्वामिभयं, गुणे खलभयं, वंशे कुयोषिद्-भयम् ।  
 माने म्लानिभयं, जये रिपुभयं, काये कृतान्ताद्-भयम्, ... ..  
 —सर्व नाम भवे भवेद् भयमहो; वैराग्यमेवा ऽभयम् ॥'

अत्र—सकलजनाऽभिमत-भोगसुखवित्ताऽदीनां (भयमयतया) हेयतां प्रतिपाद्य, वैराग्यमेव सकलभयाऽयास-शमनम् (उपादेयतया) यद् उपन्यस्तं, तेन—शान्तरसस्य 'निरर्गलमार्गा-ऽवतरणम् उचिततरम्-उपदिष्टं भवति । यथा वा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

- उ 'कुसुमशयनं पाषाणो वा, प्रियं भवनं वनम्, 41  
 प्रतन् मसृणस्पर्श वासस्—त्वगऽप्यथ तारवी ।  
 सरसमशनं कुल्माषो वा, धनानि तृणानि वा, ... ..  
 —शमसुख-सुधापानक्षैव्ये<sup>1</sup> समं हि महात्मनाम् ॥'

अत्र—सकलविकल्प (तल्प) रहित-अभेदाऽवभासमान-आत्मतत्त्व-विश्रान्ति जनित-सर्वसाम्यसमुल्लसित (शमसुख) पीयूषपानोदित-नित्याऽनन्द-धूर्णमानमानसानां प्रियाऽप्रिय-सुखदुःखाऽदिषु महतां 'सदृशी प्रतिपत्तिरिति—जीवन्मुक्ति-समुचितम् अभिहितम् । न-तु यथा श्रीमदुत्पलराजस्य—

- प्र 'अहौ वा हारे वा, बलवति रिपो वा सुहृदि वा, 42  
 मणौ वा लोष्ठे वा, कुसुमशयने वा दृषदि वा ।  
 तृणे वा स्त्रैणे वा, मम सम-दृशो यान्तु दिवसाः  
 क्वचित् पुण्यारऽप्ये शिव-शिव-शिवेति प्रलपतः ॥'

अत्र—जीवन्मुक्तोचितं प्रियाऽप्रिय-रागद्वेष-उपशमलक्षण-मोक्षक्षमं सर्वसाम्यम् : अहिहार-सुहृदरि-समदृष्टिरूपम् अभिदधता, क्वचित् 'पुण्याऽरप्ये' यद् अभिहितं,

शान्त

40 'भोग है तो रोग भी साथ ही है। सुख, सम्पत्ति, चाकरी, गुणाभिमान, उ वंश-गौरव, विजय—क्या है यहां जिसके साथ कुछ-न-कुछ 'भय की तन्मात्रा' न जुड़ी हुई हो।

—वैराग्य की निर्भय' वृत्ति ही जीवन में एकमात्र उपादेय तथ्य है।

41 आत्मबोध जगते ही मनुष्य सर्वत्र एकात्मभाव अनुभव करने लगता है। उ वह समदृष्टि<sup>३</sup> हो जाता है, शान्त-चित्त हो जाता है, और आत्म-विभोरता<sup>१</sup> में ही परम सुख पा लेता है।'

—'एसे जीवन्मुक्त को जंगल क्या और महल क्या?' उसका जीवन ही अद्वैत का जीता-जागता प्रमाण है, एक जीवित सिद्धि है।

42 <sup>१</sup>आत्मबोध की विमल ज्योति से प्रसादित होकर जो एकबार जीवन्मुक्त प्र हो गया—एकात्मता<sup>१</sup> की स्वानुभूति द्वारा सब भेदभावों-द्वन्द्वों<sup>३</sup> से ऊपर उठ चुके समदृष्टि जीवन्मुक्त के लिए तो सारा संसार ही 'शिव'-मय है।

—क्या दुनिया का कोई खास कोना ही, शिव-जाप के लिए उपयुक्त (एकमात्र) पुण्यतीर्थ है (जहां पहुंचने की हबस अब भी साधु जी के

कमनीयता की कसौटी पर—ii.

तद्, विकल्प-प्रतिपादकम् अभेद (वासना) विरुद्धम् अनुचितम् अवभासते । धाराऽङ्घ्रि-  
रूढ-सर्वसाम्य<sup>१</sup>-विगलित-भेद (अभिमान) ग्रन्थेर्<sup>२</sup>-हि, सर्वत्र सर्वं शिवमयं पश्यतः,  
तपोवने नगराऽवस्करकूटे च विमल-आत्मलाभ-तृप्ततया<sup>३</sup> समान-दृशः 'क्वचित्  
पुण्याऽरण्यादि'वचनम् अनुचितोच्चारणमेव ।

१७-१८

यथा मधुरतिक्ताऽद्या रसाः कुशल-योजिताः ।

विचित्राऽस्वादतां यान्ति शृङ्गाराऽद्यास् तथा मिथः ॥

तेषां परस्पराऽश्लेषात् कुर्याद् औचित्य-रक्षणम् ।

अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रस-संकरः ॥

रसाः कटुक-मधुर-आम्ल-लवणाऽद्याः कुशल-सूदेन वेसवार-पानाऽदिपु योजिता  
विचित्राऽस्वादताम् उपयान्ति । तथैव—परस्परम्-अविरुद्धाः<sup>१</sup> शृङ्गारादय इति ।  
तेषाम् अन्योऽन्यम्-अङ्गाऽङ्गभाव<sup>२</sup>-योजनायाम् औचित्यस्य जीवित (सर्वस्व) भूतस्य  
रक्षां कुर्यात् । अनौचित्य-रजसा<sup>३</sup> स्पृष्टो रस-संयोगः न कस्यचिद् अभिमत इत्यर्थः ।

रससंकरौचित्ये, शान्त-शृङ्गारयोः अङ्गाऽङ्गभावो, यथा भगवतो महर्षेर्व्यासस्य—

उ 'सत्यं मनोरमा रामाः, सत्यं रम्या विभूतयः । 43

किं तु मत्ताऽङ्गनाऽपाङ्ग (भिङ्ग)-लोलं हि जीवितम् ॥'

अत्र—भगवता, जन्तुहिताऽभिनिविष्टेन<sup>१</sup>, मोक्षक्षम-उपदेशे अङ्गिनः शान्तरसस्य  
रागिजन-अनिष्टत्वात्, सकलजन-मनःप्रह्लादने<sup>२</sup> बाल-गुडजिह्विकया, शृङ्गारे-  
अङ्गभावमुपनीते..<sup>३</sup>पर्यन्ते शान्तस्यैव (लोलं जीवितमिति—अनित्यता-प्रतिपादन)  
परिनिवहिण परमम्-औचित्यमुच्चैः-कृतम् ।

बीभत्स-शृङ्गारयोः अङ्गाऽङ्गभावो, यथा मम बौद्धावदानकल्पलतायाम्—

उ 'क्षीबस्येवा ऽचलस्य द्रुत-हृतहृदया जम्बुकी कण्ठ-सक्ता 44

रक्ता-ऽभिव्यक्तकामा कमपि नख-मुखोल्लेखमासूत्रयन्ती<sup>१</sup> ।

आस्वाद्या-ऽस्वाद्य यूनः क्षणमधरदलं दत्त-दन्तव्रणाङ्कं

—लग्ना-<sup>२</sup>ऽनङ्गक्रियायाम् इयमतिरभसोत्कर्षमाविष्करोति ॥'

दिल में बाकी है) ?—अभी चित्त शान्त नहीं हुआ ।

१७-१८

### रस-मिश्रण

किन्तु—रसों के (परस्पर-अविरोधी<sup>१</sup>, अन्योन्यापित<sup>२</sup>) संमिश्रण द्वारा काव्य में अनुभूति को एक सर्वथा-नूतन पूर्ण-सी साधित करने के लिए, संचरित करने के लिए, कवि में सदा विशेष कुशलता—एक अनुभवो रसोद्भये की-सी कुशलता—अपेक्षित होती है; वरना—जरा-सी<sup>३</sup> शलती सारा मजा किरकिरा कर देगी ।

### शान्त और शृङ्गार का

43 'कांचन ओर कामिनी किस का चित्त नहीं हर लेते ? किन्तु जीवन है कि उ मतवारी-नजरिया की तरह चंचल है ।'

—बात यह है कि हम कामिजनों को शान्ति और मुक्ति के उपदेश भा नहीं सकते स्रैं; सो, भगवान् (व्यास) ने शृङ्गार का शूगरकोटिंग<sup>४</sup> करके हमें 'जीवन की अनित्यता' का वह कड़वा घूंट भी, 'हमारी ही भलाई के लिए, पिला ही दिया !

### बीभत्स और शृङ्गार का

44 'खून को प्यासो ने नोच-खसोट-खरोच... युवक का दिल तो खींच ही उ निकाला है; और अब ? लो, गले से लिपट रही है; बार-बार होंठों को, चूस नहीं, काटने लगी !.. 'पकड़ के ऊपर को खींच रही है, मानो, 'नशे-में-चूर बेचारा खुद तो अब उठेगा ही नहीं : 'वीथड़े करके ही छोड़ेगी ।'

## कमनीयता की कसौटी पर—ii.

अत्र—श्लेष-उपमया (तुल्यकक्षाऽधिरूढयोरपि परस्परविरुद्धयोर् अर्थयोर्) बीभत्सशृङ्गार-अङ्गाऽङ्गिभाव-योजनायां जम्बुकी तरुण-शवस्य, क्षीबस्य-इव निश्चल-स्थितेः, सहसंव हृत-हृदयपद्मा (कृष्ट-चित्ता वा) <sup>१</sup>, कण्ठे लग्ना, शोणिते भृशम् अभिव्यक्तस्पृहा ('रक्ता'—अभिव्यक्त-कामा वा) <sup>२</sup>, नखोल्लेखम् आसूत्रयन्ती, दत्त-दन्तव्रणम् अधरम् आस्वाद्य-आस्वाद्य अङ्गच्छेद-क्रियायाम् (अनङ्ग-भोग-क्रियायां वा) लग्ना, गात्राणाम् ऊर्ध्वगतं कर्षणं (रत-कौशल-उत्कर्षं वा) ..। ..प्रकाशय-तीति—समानयोर् बीभत्स-शृङ्गारयोः, 'कामिनीपद-परित्यागेन केवलं..जम्बुकाः कर्तृत्वेन(च)—बीभत्सस्य-एव प्राधान्ये (शृङ्गारे अङ्गतामुपगते), वक्तुर् बोधिसत्त्वस्य अन्तर्गत-गाढवैराग्य (वासना)-अधिवासितचेतसः (कुत्साऽर्हं-जुगुप्सया) (नितम्बिनी) रतिविडम्बनम् औचित्य-रुचिरताम्' आदधाति। यद्यपि अत्र-महावाक्ये शान्तस्यैव प्राधान्यं, तथापि उदाहरण(श्लोक)वाक्ये बीभत्सस्य-एव ।

वीर-करुणयोर् यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'गाण्डीवस्रुव-मार्जनप्रणयिनः स्नातस्य वाष्पा-ऽम्बुभिः, 45  
चण्डं खाण्डव(पावक)।दपि परं शोकानलं बिभ्रतः।'  
जिष्णोर् नूतनयौवनोदयदिन-च्छिन्ना-ऽभिमन्योश् चिरं  
'हा वत्सेति बभूव मँधव-वधा-ऽरब्धा-ऽभिचारे' जपः<sup>३</sup> ॥'

अत्र—त्रिगतं-सङ्ग्रामगतस्य गाण्डीव-धन्वनः, शत्रुभिर् नवयौवनोदयसमय-निहततनयस्य. कार्मुक-स्रुवम् उन्मार्जयतः, प्रसरद्-अश्रु-स्नातस्य, शोकाऽग्निम् उद्रहतः, चिरं 'हा पुत्रेति' जयद्रथवधाऽरब्ध-अभिचारे जपो बभूवेति—यद् उपन्यस्तं, तेन—अरि-क्षये 'दीक्षासमुचित-व्रत-वर्णनया, शोकाऽग्नेश् चण्डत्वेन, <sup>३</sup>खाण्डवपद-उत्तीरणेन, वीररसस्य(अङ्गिनः)—सहसंव 'आगन्तुके करुणरसे प्रज्वलिते—मँधववधाऽरब्ध-अभिचाराऽभिधानेन, पर्यन्ते शौर्यनिर्वाहेण—परमम्-औचित्यम् उज्जृम्भते।

—श्लेष स्पष्ट है; और सहसा यह निश्चित करना मुश्किल हो जाता है कि 'यह जवान छोकरे पर आसक्ति', आकर्षण' और कामुकता' के प्रहार हो रहे हैं या मुरदे पर गीदड़ी मर-मिटी है ?<sup>४</sup> 'गीदड़ी' की कर्तृ-कारकता का, और 'अङ्गना'पद के परिहार का, अलबत्ता, इङ्गित स्पष्ट है कि यहां 'बीभत्स' अङ्गी है और 'शृङ्गार' अंग-भूत। और हां: यह उक्ति साक्षात् बोधिसत्त्व की है जिन्हें कामिनी-व्यामोह<sup>५</sup> से मनुष्य को विरक्त कराना ही इष्ट था; और, यहां, यह स्मरण दिलाना भी अनुपयुक्त न होगा कि, वहां प्रकरण में, यह 'बीभत्स' भी स्वयं 'शान्त' का उपकारक ही बन कर प्रस्तुत हुआ है।

### बीर और करुण का

- 45 'उधर गाण्डीवी त्रिगर्तों से जुटे थे कि इधर अभिमन्यु का क़त्ल हो गया। उ. किन्तु, नहीं: 'वह खाण्डव से भी भीषण शोकाग्नि,<sup>६</sup> वह विलाप, वे आंसू— वीर-हृदय की 'सिन्धुराज-की-मृत्यु रूपी व्रत'<sup>७</sup> में अग्नि-दीक्षा के लिए, मानो, एक 'उद्दीपक'<sup>८</sup> वरदान<sup>९</sup> बन गये !'

—यहां 'बीर' को प्रदीप्त करने के लिए स्वयं 'करुण' आहुति बन गया है।

शान्त-शृङ्गार-करुण-त्रीभत्सानाम्, यथा मम तत्रैव—

उ 'तीक्ष्णाऽन्त-स्त्रीकटाक्ष-क्षतहृदयतया व्यक्त-संसक्तरक्ताः 46  
 क्रोधाऽदि (क्रूररोग) -त्रणगण-गणनाऽतीत-तीव्रव्यथाऽर्ताः ।  
 स्नेह (क्लेदा) -ऽतिलग्नैः कृमिभिरिव सुतैः स्वाङ्ग-जैर् भक्ष्यमाणाः  
 संसारक्लेश (शय्या) -निपतिततनवः, पश्य, सीदन्ति मन्दाः॥'

अत्र—मुख्यस्य (अङ्गिनः) शान्तरसस्यैव उद्दीपने कारणीभूताः तीक्ष्णाऽन्त-  
 स्त्रीकटाक्ष-क्षतहृदय-व्यथाऽर्त-स्नेहक्लेद-अतिलग्न-कृमिनुल्य-तनयाऽदि-पदोपादानेन  
 शृङ्गार-करुण-त्रीभत्साः शान्त-मुखप्रेक्षिणः, संलीनतया (स्तिमित-वृत्तयो भृत्या इव)  
 परमम्-औचित्यं दर्शयन्ति ।

रससंकरस्य अनौचित्यम् उद्भावयितुमाह :

शृङ्गार-शान्तयोः, यथा अमरकस्य—

प्र 'गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्ताऽसि केयं त्वरा; 47  
 द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावद् मुखम् ।  
 संसारे (घटिका-प्रणाल) विगलद्-वारा' समे जीविते  
 को जानाति पुनस् त्वया सह मम स्याद् वा न वा संगमः॥'

अत्र—प्रकरणवर्तिनः शृङ्गाररसस्य ('पश्यामि यावन्मुखम्' इति उत्कण्ठा-  
 समुज्ज्वलमानस्य) स्वभाव-विरोधिनि शान्ते अङ्गभावम्-उपनीते—विस्तीर्णतर-  
 अनित्यता-वर्णनया वैराग्येण रतेर्-न्यग्भावम् आपादयन्त्या, प्रधानरस-संबन्धेन,  
 अधिकम्-अनौचित्यम् उत्साहितम् । निःसारसंसार-अचास्ता-श्रवणेन हि  
 कठिनक्रिया-क्रूरचेतसामपि उत्साहसम्भङ्गाद् अङ्गानि अलसीभवन्ति, किमुत  
 कुसुमसुकुमार-शृङ्गाररस-कोमलमनसां विलासवताम् । प्रान्ते च, शान्तपरिपोष-  
 निर्वहिण रागवैरस्यमेव पर्यवस्यति । तद् उक्तमानन्दवर्धनेन—

प्रमा 2] 'विरोधी वाऽविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।  
 परिपोषं न नेतव्यः : तेन स्याद् अविरोधिता ॥'

### शान्त, शृङ्गार, करुण और बीभत्स का

46 'देख रहे हो इन अभागों को ?—कामिनो के कटाक्षों से क्षत-हृदय, उ  
लेकिन फिर भी आसक्त ! क्रोधादि अनगिनत बीमारियों और ज़र्रमों में  
कराहते ; ...अपनी ही प्यारी औलाद इन्हें ऐसे खा जायगी जैसे सड़ते जिस्म  
को उसी के खुद-के-पैदा-किये कीड़े !'

—दुनिया की इस कामुकता को, करुणाविलता को, बीभत्सता को  
देखकर हृदय में सहसा वैराग्य ही उत्पन्न हो आता है ।

### शृङ्गार और शान्त का विरोध

47 'जब जाना ज़रूरी ही है, तो चले जाना । जल्दी कीन-सी है ? दो-टुक प्र  
रुक भी जाओ : ज़रा आंख भर कर यह चितवन देख तो लू ! ' रिसते पानी  
की तरह अस्थिर इस जीवन में, कीन कह सकता है, फिर मेल हो..न-हो ?'

दर्शन की 'प्यासी अंखियां' हैं कि अघाती ही नहीं । और छेड़ दिया  
उपदेश जीवन की असारता का जिसे सुन कर घोर-तपस्वी भी पस्त पड़  
जायं (साधारण दुनियादारों की छोड़ो) ; निष्कर्ष निकला : वैराग्य और  
शान्ति ही यहां एक मात्र उपादेय मार्ग हैं । यदि सचमुच विरसता इष्ट न  
हो तो, जैसे कि आनन्दवर्धन ने कहा भी है :

परस्पर-विरोधिता से बचने का एक ही उपाय है—

[ प्रमा 2

'एक रस को दूसरे रस में परिणत, जहां तक बन सके, न होने दो !'

तदेवा ऽत्र वैपरीत्येन-उपलभ्यते । परिपोष-विपरीते, स्वभावविरोधिनि-अपि, प्रधान-अनुपरोध एव । [न-तु] यथा राजशेखरस्य—

उ 'माणं मुंचध, देह वल्लह-जणे दिट्ठिं तरंगुत्तरं : 48  
 तारुणं दिअहाइं पंच दह वा (पीण)त्थण-त्थंभणं ।  
 इत्थं कोइलि-मंजुसिजिण-मिसाद् देवस्स पंचेसुणो  
 दिण्णा चित्त-महूसवेण सहसा आणब्ब सब्बंकसा ॥'

अत्र, 'मानं मुञ्चत, दत्त वल्लभजने दृष्टि तरङ्गितां, तारुण्यं दिनानि पञ्च दश वा पीनस्तन-स्तम्भनम्—इत्थं, कोकिल-मधुरध्वनि-व्याजेन, देवस्य पञ्चेषोश् चैत्र-महोत्सवेन आज्ञा-इव (सर्वकषा) दत्ता' इति वाक्ये—मुख्यः शृङ्गाररसः (प्रारम्भ-पर्यन्त) व्याप्तिशाली—'कतिपयदिवसस्थायि यौवनमिति'—अनित्यतारूप-शान्तरसबिन्दुना, 'मध्यब्रुडितेनेव, विरसतां न नीतः । विरुद्धस्य परिपोषाऽभावात् । विरुद्धवर्णन- उदितेन हि अनौचित्येन स्थायी (कुञ्जर इव श्वभ्र-पतितः) पुनरुत्थातुं न-उत्सहते—इति, अलं विस्तरेण । अनया दिशा रस-संकरे भेद-प्रपञ्चौचित्यं विपश्चिद्भिः स्वयं विचार्यम् ।

१९

रसौचित्यविचारानन्तरम्, उद्देशानुसारक्रमेण, क्रमोपगतं क्रियापदौचित्यं दर्शयितुमाह—

सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते ।

काव्यस्य मुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया ॥

काव्यस्य माधुर्याऽदि-गुणवत्ता वसन्ततिलकाऽदि-सुवृत्तता परिपूर्णलक्षण-साधुता च विराजते, यदि औचित्य-युक्तं क्रियापदं भवति । मुजनस्येवेति—तत्-तुल्यत्वं—स्रष्टार्यमेव । क्रियापदौचित्यं यथा मम नीतिलतायाम्—

—शृङ्गार और वराग्य परस्पर-विरोधी हैं ।

48 'छोड़ो भी पुराने हठ को; एक नज़र ही सही, प्यार की, इधर छोड़ दो, उ और बस। दस दिन बाद यह जवानी, मेरी मानो भी, ढिलक जायगी (तब पछता कर क्या हासिल होगा ?) ।'

—कोयल के मधुर राग के मिस से, जैसे, स्वयं कामदेव के अनुल्लंघ्य शासन को ही बसन्त ने कह डाला !

'शुरू से आखीर तक 'शृङ्गार' का उद्भावन ही इष्ट था; बीच में, 'यौवन की अनित्यता' का बुलबुला उठा और वही फुस हो गया !'  
(अन्यथा—विरोधी रस को असमय उठा-देने से स्थायिभाव का अक्सर वही हाल हुआ करता है जो एक बार खड्ड में गिर-पड़े हाथी का : वह फिर अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता ।)

१९

क्रिया

वाक्य का सच्चा सिंगार होती है क्रिया—वर्णों की मधुरता नहीं, छन्दों की संगीतमयता नहीं; जैसे कि—मनुष्य का सच्चा सिंगार भी क्रियाशीलता ही होती है : अन्दरूनी खूबियां नहीं, बाहरी खूबसूरती नहीं ।

उ 'यः प्रख्यात-जवः सदा स्थिति-विधौ सप्ताऽब्धि-संध्याऽर्चने, 49  
 दोर्दर्पेण निनाय दुन्दुभिवपुर् यः काल-कंकालताम्,  
 यः पातालमसृङ्गमयं प्रविदधे निष्पिष्य मायाविनं,  
 सुग्रीवाऽऽयविभूति-लुण्ठनपटुर्—वाली स किं स्मर्यते ॥'

अत्र—सप्ताऽब्धि-संध्याऽर्चन-प्रख्यातजवो महिषरूप-दुन्दुभिदानव-उन्माथी,  
 मायाविदानवनिष्पेष-उद्भूतशोणित-पूरितपातालतलः .. किं स वाली स्मर्यते ?—  
 इति क्रियापदेन शुक-सारणाभ्यां रावणस्य दुर्नया-ऽभिनिवेशिनः, तद्-विरामाय  
 हितोपदेशेन, 'भवान् वसनकोण-नियमिततनुः कक्षायां निःक्षिप्त इति' उचितं युक्ति-  
 युक्तम्-उक्तं भवति । न-तु यथा श्रीप्रवरसेनस्य—

प्र 'सगं अपारिजातं कोत्थुह-लच्छी-रहिअं महु-महस्स उर । 50  
 सुमिरामि महण-पुरओ अमुद्ध-अन्दं हर-अडा-पब्भारं ॥'

अत्र—जाम्बुवता-अधीयमाने 'स्वर्गम् अपारिजातं, कौस्तुभ-लक्ष्मीभ्यां विरहितं  
 मधु-मथनस्य उरः... ..स्मरामि... ..अमृतमथन-पुरतोऽपि अ-बालचन्द्रं हर-जटा-  
 प्राग्भारं[च]' इति प्रगुणगुणा-ऽख्यानप्रसङ्गे क्रियापदेन जरा-जर्जरशरीरत्वमात्रमेव;  
 न-तु पौरुषोत्कर्ष-विशेषा-ऽतिशयः कश्चिद् उचितः संसूचितः ।

२०

कारकौचित्यं दर्शयितुमाह—

सान्वयं शोभते वाक्यम् उचितैरेव कारकैः ।

कुलाभरणमैश्वर्यम् औदार्यचरितैरिव ॥

उचितैरेव कारकैः-सद्, अन्वय-वद्, वाक्यं—सद्वंशभूषितम्-ऐश्वर्यं सच्चरितैरिव  
 विराजते ।

- 49 'जो जीवन-भर (? सातों-समुद्रों के) सन्ध्या-वन्दन से कभी नहीं चूका; उ जिसने दुन्दुभि (की राक्षसता) का, मार-मार कर, कचूमर निकाल डाला था; और जिसने मायावी को ऐसा लताड़ा था कि सारा पाताल ही उसके खून से भर गया था..'—शुक और सारण रावण से पूछ रहे हैं: 'बया उसी बाली की जनाब को याद सता रही है, आज ?'

—उन्हें इष्ट था रावण को उसकी हठीली प्रकृति से छुड़ाना' क्योंकि: 'कभी खुद रावण के साथ भी बाली ने, उसे बगल में कस कर, और फिर पल्लू में बांध, फेंक...' खिलवाड़ की थी !

- 50 'मुझे तो वह जमाना भी याद है जब स्वर्ग में अभी पारिजात के फूल प्र नहीं खिलते थे, कौस्तुभ और लक्ष्मी विष्णु के गले का हार अभी नहीं बने थे, अभी बाल-चन्द्र शिव का शेखर नहीं बना था...':

—बूढ़ा जाम्बवान् अमृतमन्थन के समय से बराबर घिसटता ही चला आ रहा है; मरता नहीं। अच्छा होता यदि यह अमर-स्मृति उसकी किसी विस्मृत गुण-गरिमा को उसकी प्रत्युज्ज्वल कर देती।

२०

### कारक

और तब हो कारकों की परस्पर संगति : जैसे—  
ज्ञानदान को रोशन रखने को काहराए-  
नुमायां का एक मुतवातिर सिलसिला हो !

कर्तृपदौचित्यम् : यथा भट्टबाणस्य—

उ 'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतर-वर्ति हृदय-शोकाग्नेः । 51  
चरति विमुक्ता(\$)हारं व्रतमिव भवतो रिपु-स्त्रीणाम् ॥'

अत्र—शत्रुस्त्रियो व्रतं चरन्तीति वक्तव्ये : स्तनयुगं वाष्पसलिल-स्नातं, शोकाग्नि-समीप-वर्ति, विमुक्त-भोजनं, विगत-मुक्ताहारं च..सद्-व्रतं चरती-त्युक्ते—कर्तृपदम् औचित्यम्-उपचितं जनयति । न-नु यथा परिमलस्य—

प्र 'आहारं न करोति, ना ऽम्बु पिबति, स्त्रैणं न संसेवते, 52  
शेते यत् सिकतामु मुक्त-विषयश्, चण्डाऽतपं सेवते ।  
त्वत्-पादाऽञ्जरजः-प्रसादकणिका-लोभोन्मुखस् तद् मरौ  
—मन्ये, मालवसिंह, गुर्जरपतिस् तीव्रं तपस् तप्यते ॥'

अत्र—गुर्जरपतिर् विद्रुतो : मरु-गहनं प्रविष्टः, परित्यक्त-आहाराऽदि-समस्तविषयः, चण्डाऽतप-उपसेवी.. ..तपश्चरतीति : यदुक्तं, तत्—कर्तृपदस्य विशेषाऽभिप्रायोचितं न-किञ्चिद् उपलक्ष्यते । शत्रुत्रास-तरलतया मरु-कान्ताराऽन्तर-अवसन्नः, सकलविषय-सुखभोग-परिभ्रष्टः, किम्-अन्यत् कुरुताम् ? स्तनयुगवत्, कर्तृपदस्य चमत्कारोचितं न-किञ्चिद् अभिहितम् ।

कर्मपदौचित्यम् : यथा मम लावण्यवत्याम्—

उ 'सदा सक्तं शैत्यं विमल-जलधारा-परिचितं 53  
घनोल्लासः क्षमाभृत्-पृथुकटक-पाती वहति यः ।  
विधत्ते शौर्यश्री-श्रवण-नवनीलोत्पलरुचिः  
स चित्रं शत्रूणां ज्वलदनलतापं भवदसिः ॥

अत्र : निश्चलम् अमल-जलधारागतं शैत्यं—तैक्ष्ण्यं शीतलत्वं च, घनोल्लासो-निबिडोत्साहः पर्जन्योदयश्च, क्षमा-भृतां सानु-सैन्य-निपाती (वहति यः)—स शौर्यश्री-श्रवण-नवनीलोत्पल-तुल्यः त्वत्खङ्गः, चित्रं, शत्रूणां संतापं करोतीति यदुक्तं, तत्—

कर्त्ता

51 'देव, रिपु की विधवाओं के 'अश्रुस्नात, शोकाग्नि में तपते, मुक्ता (S) हार- उ  
हीन' ये उरोज सचमुच, जैसे निरन्तर व्रत-चर्या में रत हैं !'

—क्योंकि व्रत के लिए अपेक्षित साधन भी तो ये तीन ही होते हैं :  
स्नान, अग्नि, और उपवास (आहार-त्याग) ।

52 किन्तु भय के मारे गुर्जरपति के 'जंगल में जा छुपने और भूखे-मरने' का प्र  
'मालवराज की चरण-रज-प्रेप्सा से, मानो', घोर तप है :

—'तपस्या' की भावना के साथ मज्जाक करना है; क्योंकि और  
चारा ही क्या था वेचारे के लिए ? और तो और—यहां तप कोई  
'उरोज' भी तो नहीं कर रहे ।

कर्म

53 'यह आपकी राजाओं के दस्ते-के-दस्ते साफ़ कर देने वाली आबदार उ  
तलवार और ये पहाड़ों की तलहटियों में मंडराते निर्मल जल से भरे  
बावल—दीनों ही लक्ष्मी के कर्णोत्पल-से उज्ज्वल...

पहाड़ों और तख्तों को पलटा देने वाले... !

कर्मभूतस्य तापस्य शिशिर(तर-सामग्री) जन्मनः परं-वैचित्र्यं रुचिरम्-औचित्यम्, आसूत्रितम् । न-तु, यथा ममैव अवसरसारे—

प्र 'भग्नाऽहित-श्वसितवात-विबोध्यमानः 54  
काष्ठा(s)श्रयेण सहसैव विवृद्धिमाप्तः ।  
तापं तनोति निहता-ऽरिविलासिनीनां  
वह्निद्युतिर् भुवन-नाथ भवत् -प्रतापः ॥'

अत्र—विद्रुताऽराति-निःश्वसिताऽनिल-प्रबोध्यमानः, काष्ठा(s)श्रयेण-  
दिक्चक्र-पूरणेन प्रीढतां प्राप्तः, पावक-तुल्यस् त्वत्-प्रतापः शत्रु-कान्तानां तापमात्रं  
तनोतीति, तत्—समुचितम्—आश्चर्यं न-किञ्चित् ।

करणौचित्यम् : यथा गौडकुम्भकारस्य—

उ 'लाङ्गूलेन गभस्तिमान् वलयितः, प्रोतः शशी मौलिना, 55  
व्याधूता जलदाः सटाभि', रुडवो दंष्ट्राभि' रुत्तम्भिताः,  
प्रोत्तीर्णो जलधिर् दृशैव हरिणा, स्वै' रट्टहासोर्मिभिर्  
—लङ्केशस्य च लङ्घितो दिशि-दिशि प्राज्यः प्रतापा-ऽनलः ॥'

अत्र—हरिणा (हनुमता) जलनिधि-तरणे तरिणिर् लाङ्गूलेन वलयितः,  
किरीट-प्रान्तेन शशी प्रोतः, सटाभिर् मेघा व्याधूताः, तारा दंष्ट्राभिर् आयासिताः,  
अब्धिर् दृष्ट्या-एव तीर्णो, अट्टहास-तरङ्गैर् लङ्केशस्य विस्तीर्णः, प्रतापाऽग्निः  
शमित इति—बहुभिः करणपदैर् उत्साहाऽधिवासितैर् विस्मयशिखर-आरोहण-  
सोपानैरिव—रघुपतिप्रभावाऽरम्भ-विजयध्वजायमानस्य पवनसूनोर् औचित्या-  
ऽतिशयः प्रकाशितः । न-तु, यथा भट्टबाणस्य—

प्र 'जयत्युपेन्द्रः—स चकार दूरतो बिभित्सया यः क्षणलब्ध-लक्षया । 56  
दृशैव कोपा-ऽरुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्-भिन्न मिवाऽस्र-पाटलम् ॥'

—किन्तु, क्या शीतलता हमेशा आग ही बरसाया करती है ?

54 किन्तु—‘आपका प्रताप दिग्दन्तव्यापी होकर (भाग-खड़े) शत्रु की प्र. “विधवाओं” को ताप दे रहा है’ :

—इस उक्ति में भले ही प्रभु की प्रभुता को शत्रुओं की आहों से, और और ‘काष्ठ(ः)’ पद के श्लेष द्वारा, उद्दीप्त किया गया है; हृदय-ताप उससे कुछ भी चत्मकृत नहीं हो जाता ।

### करण

55 ‘पूँछ में सूरज को धर दबा कर, .. समुद्र को एक दृष्टिपात से ही तर उः कर, .. हनुमान् ने अट्टहास की तरंगों से ही, मानो, रावण के दिग्दन्तव्यापी प्रताप को ठंडा कर दिया !’

—आश्चर्यों की यह सोपान-परम्परा किस शिखर में अवसित होगी ? अभी तो रघुपति के अद्भुत प्रभाव का पूर्वाभास ही प्रत्यक्ष हो रहा है ।

56 किन्तु—‘नृसिंह की गुस्से से लाल एक आंख के निशाने पर टिकते ही प्रः हिरण्यकशिपु की छाती, ‘मानो, स्वयं (डर के मारे) फट गई !’

कमनीयता की कसौटी पर—iii.

अत्र—भगवतो नृसिंहस्य कोप-रक्तया दृष्टञ्चैव क्षणलब्ध-लक्षया हिरण्यकशिपोर्  
वक्षः स्वयं भयाद्-भिन्नमिवेति यदुक्तं, तत्—महोत्साहपराक्रमस्य प्रतिनायकस्य  
रिपोः प्रधाननायक-प्रतापोद्दीपन-उपकरणीभूत-अधिकधैर्यस्य स्वयं भय-विह्वलतया  
हृदयस्फुटनम्, इति—उपचितम्-अनौचित्यं 'दृशैव'-करणपदस्य शिरसि विश्रान्तम् ।

संप्रदानौचित्यम् : यथा भट्टप्रभाकरस्य—

उ 'दिङ्मातङ्गघटा-विभक्तचतुराऽघाटा मही साध्यते, 57  
सिद्धा साऽपि वदन्तऽ-एव हि वयं रोमाञ्चिताः—पश्यत !  
विप्राय प्रतिपाद्यते : किमपरम् ?—रामाय तस्मै नमो  
यस्मादाविरभूत् कथाऽद्भुतमिदं यत्रैव चाऽस्तं गतम् ॥'

अत्र—दिग्गज-चतुरस्रा भूः साध्यते, सा च सिद्धा (हेलया) अन्नमुष्टिरिव एकस्मै  
विप्रमात्राय<sup>१</sup> प्रतिपाद्यते, इति—निरतिशय-औदार्य-आश्चर्यचमत्काररश्चिर-औचित्य-  
चर्वणया वयं रोमाञ्चिताः—पश्यत (रोमाञ्चस्य प्रत्यक्ष-परिदृश्यमानत्वात्) !  
किमपरम् ? : अपूर्व-त्यागिने भार्गवाय तस्मै नम इति—'विप्रायेति'-संप्रदानपद-गत  
एव उत्कर्षविशेषः प्रकाशते । न-तु, यथा राजशेखरस्य—

प्र 'पीलस्त्यः प्रणयेन याचत—इति श्रुत्वा मनो मोदते; 58  
देयो नैष हरप्रसाद-परशुः, तेना ऽधिकं ताम्यति ।  
तद्—वाच्यः स दशाऽननो (मम गिरा) 'दत्ता द्विजेभ्यो' मही;  
तुभ्यं ब्रूहि रसातल-त्रिदिवयोर् निर्जित्य किं दीयताम् ॥'

अत्र, रावणदूतेन परशुं याचितो भार्गवो ब्रूते—'नैष हरप्रसाद-लब्धः परशुर्-  
दानयोग्यः । तत् (तस्माद्) अस्मद्-वचसा स दशग्रीवो वाच्यः 'पृथ्वी मया कश्यपाय'<sup>१</sup>  
प्रतिपादिता । तुभ्यं पाताल-त्रिदिवयोर्मध्यात् किं निर्जित्य दीयताम्?' इति—  
अनुचितं मुनेर्, लोकहित-प्रवृत्तस्य, त्रैलोक्य-कण्ठकभूताय राक्षसाय भुवन-  
प्रतिपादनम् ।

—क्या भगवान् के लोकोत्तर प्रभाव को प्रतिनायक के अतुल उत्साह-पराक्रम द्वारा उद्दीप्त करना अधिक उपयुक्त न होता ?

### सम्प्रदान

57 'कल तक जो पृथ्वी चार दिग्गजों में बंटी हुई थी, वह भी, लो, आज काबू उ में लाई जा रही है ; लो—वह काबू में आ भी गई ! और फिर—वश में आते ही वह एक अकिंचन' को (कश्यप को) दान में भी दे दी गई ; और उस त्यागमूर्ति ने वह अगले ही क्षण, ब्राह्मणों को दे दी !

—यह है परशुराम की महिमा ! इत्यक्ष, सचमुच, कितना रोमाञ्चकारी होता है !

58 लेकिन : रावण के दूत को उसी लोक-मंगलकारी सन्त ने उत्तर में यह कहते हुए कि 'सचमुच, रावण की विनयी याचना पर हम बहुत खुश हैं आज ; पर यह कुल्हाड़ा हमारा हमें भोलानाथ ने प्रसादरूप में दिया था, और धरती में पहले ही ब्राह्मणों' को दे चुका हूँ ? जाओ, पूछ कर आओ अब पाताल या स्वर्ग—क्या, जीत कर —तुम्हें दान में दे सकता हूँ ।

—(परशुराम ने) ज़रा न-सोचा यह त्रिलोकी का कण्ठक इतनी बड़ी उदारता का पात्र है भी ?

अपादानौचित्यम् : यथा मालवरुद्रस्य—

- उ 'एतस्माद् जलधेर मिताम्बुकणिकाः काश्चिद् गृहीत्वा, ततः 59  
 पाथोदाः परिपूरयन्ति जगतीं (रुद्धाम्बराः) वारिभिः;  
 भ्राम्यन्-मन्दरकूटकोटि-घटनाभीति-भ्रमत्-तारकां  
 प्राप्यैकां जलमानुषीं त्रिभुवने श्री-मान् अभूदच्युतः ॥'

अत्र—यदुक्तम् 'एतस्माद् महोदधेः परिमिता-ऽम्बुकणिकाः प्राप्य जलदा  
 जगत् पूरयन्ति', तथा 'भ्रमन्-मन्दरकूटकोटि-संघट्ट-त्रास-तरलतारकाम् एकां जल-  
 मानुषीं (श्रियं) प्राप्य श्री-मान् अच्युतो ऽभूदिति'—तेन सागरगत-निरतिशयोत्कर्ष-  
 विशेषः प्रदर्शितः । 'एतस्माद् जलधेरिति'—एतत्पदम् औचित्यस्य मूलभूमिः । न-तु,  
 यथा भट्टेन्दुराजस्य—

- प्र 'आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः 60  
 किं नाम साधितमनेन महार्णऽवेन ।  
 क्षारीकृतं च वडवा-दहने हुतं च  
 पातालमूल-कुहरे विनिवेशितं च ॥'

अत्र—महाऽर्णव-व्यपदेशेन, अन्योपार्जित-द्रविण-दुर्व्ययकारिणः सत्संविभाग-  
 विमुखस्य कस्यचिद् उच्यते । सरितां मुखेभ्यः समन्तात् तोयमादाय अपात्रेभ्यः  
 प्रतिपादितं—दूषितम् । यत्-तु, अत्र सरि-द्वयः समादायेति वक्तव्ये—'सरिद्-मुखेभ्य  
 इति' यदुक्तम्, मुख-शब्दस्य नैरर्थक्याद् अत्र अनौचित्यमेव पर्यवस्यति ।

अधिकरणौचित्यम् : यथा कुन्तेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

- उ 'इह निवसति मेरुः शेखरः क्षमाधराणास् 61  
 इह विनिहितभाराः सागराः सप्त चाऽन्ये ।  
 इदमहिपतिभोग-स्तम्भविभ्राज्यमानं  
 धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥'

अपादान

59 'जिससे कुछ बूंदे उपहार में लेकर ही मेघ धरती को धाराओं से भर उ देते हैं, और जहाँ से—मन्दराचल के थपेड़ों की आशंका से भीत (निर्दिक्) एक तिरती-फिरती परी अकस्मात् हाथ-लगते ही विष्णु के जीवन में कुछ स्थिरता आ गई थी' ;

—उमी अपार-महिमा का धनी है यह समुद्र !

60 'नदियों के मुखसे उनकी कमाई (उनकी) जलराशि को, एक हाथ ले, प्र समुद्र ने भला, (उसे खारी कर के!) वडवानल और रसातल जैसे अनुचित पात्रों को, दूसरे हाथ दे, क्या हासिल कर लिया ?'

—पराये धन का सदुपयोग और सद्-वितरण बड़ा ही दुर्लभ है !  
'मुख'—योजना भी, यहाँ निरर्थक है।

अधिकरण

61 चन्द्रगुप्त के निजी-दूत की हैसियत से आये कालिदास का सत्कार जब उ कुन्तलेश्वर ने उचित आसन आदि देकर नहीं किया, तब भी कवि की धीरता और प्रतिभां कुण्ठित नहीं हो गई थी:—

'जो सप्ताचलों का, सुमेरु का, सातों रत्नाकरों का...एक-एव

अत्र—महाराजदूतोऽपि, सामन्त-स्थान स्वप्रभुसमुचित-गौरवपूजाऽर्हम् आसनम् अनासाद्य, कार्यवशेन भूमावेव-उपविष्टः, प्रागल्भ्य-गाम्भीर्येण एवं ब्रूते : यथा—  
अस्मद्विधानां वसुधातल एव (भुजगपतिभोग-स्तम्भप्राग्भार-निष्कम्पे धरा-ऽसने)  
स्थानं युक्तम्, यस्माद्—इहैव मेहः अचल-चक्रवर्ती समुपविष्टः, सप्त महाऽब्धयश्च।  
तत्-तुल्यता-एव अस्माकम्, इति औचित्यम् अधिकरणपद-संबद्धमेव । न-तु, यथा  
परिमलस्य—

प्र 'तत्र स्थितं स्थितिमतां-वर, देव, देवाद् 62  
भृत्येन ते चकितचित्तमियन्त्यहानि ।  
उत्कम्पिनि स्तनतटे हरिणक्षणां  
हारान् प्रवर्तयति यत्र भवत्-प्रतापः ॥'

अत्र—त्वद्भृत्येन (मया) तत्र (तस्मिन् देशे) स्थितं यत्र भवत्-प्रतापः  
कम्पतरल-स्तनतटे हरिण-दृशां हारान् प्रवर्तयतीति यदुक्तं, तेन—(शौर्यशृङ्गार-  
गुणोत्कर्ष-स्तुतौ) सर्वतोदिग्गमन-अविच्छिन्नप्रसरः प्रतापः पारिमित्यं प्राप्तः ।  
'एकत्र परिच्छिन्ने देशे मया तत्र स्थितं यत्र त्वत्-प्रतापः तरुणी-स्तनतटेषु हार-  
तरलनं करोति'—(अन्यदेशे) विलक्षणमुपलक्षणम् ! सर्वगतश् चेत् प्रतापः, तत्—  
सर्वत्रैव मया स्थितमिति वक्तव्ये, तत्रेति एकदेशाऽभिधायि पदं नोपपद्यते ।  
दस्युमात्रस्याऽपि एकदेशे जृम्भमाण-प्रतापत्वात् । तद्, अत्र—अधिकरणपदगतम्  
अनौचित्यमुपलभ्यते । तत्र-तत्र मया स्थितं यत्र-यत्र भवत्प्रताप इत्येव  
स्तुत्युचितं—युक्तम्-उक्तं स्यात् ।

२१

लिङ्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितेनैव लिङ्गेन काव्यमायाति भव्यताम् ।

सान्नाज्यसूचकेनैव शरीरं शुभलक्षणा ॥

आधार है—और जो 'भुजंगों के पति' (भू-पतियों) की भी (आ) भोग-वृत्ति का परिशमन-स्थान है ':

—'हम जैसों की उचित आदर-भूमि भी तो वही (पृथ्वी) ही हो सकती है ।

62 'मालिक' आपका यह खादिम उस मुल्क में जिन्दगी की कुछ रौनक बसर करके आ रहा है जहां, शाहंशाह, आपके रौब-दाब के खौफ से उन हिरनी-सी-आंखों वालियों की छातियां धड़कने लगती हैं, छातियों पर उनकी (वो हारों-से) सांप लोटने लगते हैं ।'

—प्रताप और उरोज-हार : क्या अनूठा मिश्रण हुआ है (वीर और शृङ्गार का) ! किन्तु—प्रताप की 'दिशान्तों को भेद' आगे बढ़ने की प्रवृत्ति, अचेते में शायद, ('सर्वव्यापक' न रह कर) विश्व के 'एकदेश' तक ही सीमित हो गई है ! अपने-देश में तो उचक्के-डकैत भी राजा होते हैं । 'देश-देशान्तर रह कर आया हूं'—कहना चाहिए था ।

२१

लिङ्ग

लिंगानुशासन ऐसा होना चाहिए : जैसे—वाक्य-रूपी शरीर के शुभलक्षण प्रकट हो आये हों !

प्रस्तुतार्थोचितेन लिङ्गेन काव्यं भव्यतामुपयाति, राज-लक्षणेनेव शरीरम् ।  
यथा, मम, ललितरत्नमालायाम्—

उ 'निद्रां न स्पृशति, त्यजत्यपि धृतिं, धत्ते स्थितिं न क्वचिद्, 63  
दीर्घा वेत्ति कथां व्यथां, न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम् ।

तेना ऽराधयता [गुणस् तव !] जप-ध्यानेन (रत्नावलीं)

निः-सङ्गेन पराऽङ्गना-परिगतं नामाऽपि नो सह्यते ॥'

अत्र—वत्सेश्वरस्य रत्नावलीविरह-विधुरचेतसः स्मराऽवस्था-समुचितं  
विदूषकेण सुसंगतायै यद् अभिहितम् : 'निद्रां न स्पृशति, धृतिं त्यजति, स्थितिं न  
धत्ते, दीर्घा कथां व्यथामिव वेत्ति, निर्वृतिं न भजते; तां-विना, तेन—तद्गुण-  
जापिना, तद्ब्रह्मान-नित्येन, (जन)सङ्ग-त्यागिना, अन्यासाम् अङ्गनानां नाममात्रमपि  
न सह्यते' : स्थिति-धृति-कथा-निर्वृतीनां स्त्रीलिङ्गा-ऽभिधानेन (अङ्ग[ना]त्व-  
अध्यारोपेण) परम्-औचित्यं प्रतिपादितम् । न-तु यथा, मम, नीतिलतायाम्—

प्र 'वरुणरण-समर्था, स्वर्ग-भङ्गैः कृतार्था, 64

यमनियमन-शक्ता, मारुतोन्माथ-सक्ता,

धनदनिधन-सज्जा—लज्जते मर्त्ययुद्धे

(दहनदलन-चण्डा) मण्डली मद्-भुजानाम् ॥'

अत्र—रावणः कपिनिकार-अमर्षं (विषमविकार) विष्कारोचितं ब्रूते : 'वरुणादि-  
लोकपाल-विशालबलाऽत्रलेप (विप्लव) कारिणी प्रचण्डा मद्-भुजमण्डली' मर्त्यमात्र-  
युद्धे लज्जते—इति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः, त्रैलोक्यविजय-अर्जितस्य प्रतापस्य कठोरताम्  
अपहरन्, अनौचित्यं सूचयति ।

२२

वचनौचित्यं दर्शयितुमाह—

उच्चितैरेव वचनैः काव्यमायाति चारुताम् ।

अदैन्य-धन्यमनसां वचनं विदुषामिव ॥

63 'रत्नावली के विरह में उदयन को—नींद, दिल की डारस, मन की शान्ति, उ  
कहानी, चैन—('परायी औरत') का जिज्ञास तक बरदाश्त से बाहर हो  
गया है.'

—फ़क़त इन पदों के स्त्रीलिंगी होने (की वजह) से !

64 किन्तु, हनुमान् द्वारा अपमानित होकर रावण का यह कहना कि "दहन और प्र  
दलन में चण्डी" जिस मेरी भुज-मण्डली को स्वर्ग तक तहस-नहस करने का  
फ़ख़्र हासिल है और जो यम और वरुण (और कुबेर) की भी बोलती  
बन्द कर दे, वह आज एक हवाई-पुरजे से और एक अदने-से इन्सान से  
लड़ेगी ?—वह तो ऐसे ख्याल से ही शरमिन्दा है' !

—(यह उक्ति) वीर-क्रोध के उचित हो तो हो; त्रैलोक्यजयी  
दोर्वण्ड-मण्डल को स्त्रीलिंग दे देना पु षोचित गोरव-बुद्धि को—परास्त  
कर देता है—'लज्जित' कर देता है ।

२२

वचन

वचन ऐसे—कि सुनने वाले के भी चेहरे से शिकन  
जाती रहे ।

कमनीयता की कसौटी पर—iii.

उचितैर् एकवचन-द्विवचन-बहुवचनैः काव्यं चारुतामायाति—अदैन्य-उदार-  
चेतसां विदुषामिव वदनम् अयाञ्चारुचिर-औचित्यचारुभिर् वचोभि[रिव] ! यथा,  
मम, नीतिलतायाम्—

उ 'त्रैलोक्याऽक्रमणैर्, वराहविजयैर्, निःसंख्य-रत्नाऽप्तिभिः, 65  
प्रख्यातः—स्वरस-स्वयंवरशतैर् युद्धाऽब्धि-मध्ये श्रियः,  
साऽश्चर्यैर् बलिवन्धनैश्च बहुभिर्—नित्यं हसत्युत्थितः  
पौलस्त्यः (सकृदुद्यमश्रम-वशाद् व्यासक्त-निद्रं हरिम्) ॥'

अत्र—शुकसारणाभ्यां, रघुपतेरग्रे दशग्रीव-पराक्रमे अभिधीयमाने, यदुक्तम् :  
'पौलस्त्यः शेष-शायिनं हरिम् (एकवार-उद्योगश्रम-वशेन संसक्त-आलस्यनिद्रम्)  
त्रलोक्याऽक्रमणैर्, वराह-विजयिनां सुभटानां जयैर्, अनेकरत्नप्राप्तिभिः, (समर)-  
समुद्र-मध्ये बहुवार-हितैः (श्रियः) स्वयंवर-शतैर्, बलिनां च लोकपालानां बन्धनैः—  
प्रख्यातः—सदा-उत्थितः, सोत्साहः, सततं-हसतीति' बहुवचनैरेव हरि-वैलक्षण्य-  
लक्षणम् उपचितम्-औचित्यम् उदञ्चितम् । न-नु, यथा, मातृगुप्तस्य—

प्र 'ना ऽयं—निशामुख-सरोरुह-राजहंसः 66  
कीरी-कपोलतल-कान्ततनुः शशाङ्कः ।  
आभाति, नाथ, तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-  
डिण्डीरपिण्ड-परिपाण्डु यशस् त्वदीयम् ॥'

अत्र—'ना ऽयं शशी, त्वदीयम् इन्दु-दुग्धाऽब्धि (फेनपिण्ड)-पाण्डुरं यश इति'  
यदभिहितं, तत् 'अविच्छिन्न-प्रसरणां यशसां (बहुवचनेन वर्णनायां समुचितायाम्)  
एकवचनोपन्यासः, चन्द्रबिम्बा-ऽकारेण पिण्डमात्र-परिच्छिन्नतया, संकोचरूपम्  
बनौचित्यम् उद्भावयति ।

65 शुक और सारण राम के संमुख रावण के गीत गा रहे हैं कि किस प्रकार **उ**  
 वह कितनी-ही-बार त्रिलोकी-दमन, वराह-विजय, अमित संपद्-संचय,  
 लोकपाल-बन्धन.. ..करके भी, युद्ध के दौरान में ही लक्ष्मी द्वारा चाव में  
 (कितनी-ही-बार) स्वयंवृत होकर भी—हर-वक्रत तरोताजा, खिलखिलाता,  
 नजर आता है (जब कि इतने कारनामों में से एक भी, और एक ही बार,  
 स्वयं भगवान् (विष्णु) को 'चूर कर देने के लिए काफ़ी है)' !

—इतने कारनामे, और इतनी बार !

66 'यह—काश्मीरी-गोरियों के गालों-सा गोल-गोल...सन्ध्या-सरसी में **प्र**  
 मुक्त-विहरण करने वाला राजहंस नहीं, चन्द्रमा नहीं, क्षीर-सागर के  
 फेन पुंज-सा धवल आपका यश है ।'

—कीर्ति-प्रसरो को अबाध वृत्ति को, एकवचन देकर, नन्हे-से  
 चन्द्र-खिलौने तक सीमित कर दिया !

विशेषणौचित्यं दर्शयितुमाह—

विशेषणैः समुचितैर् विशेष्योऽर्थः प्रकाशते ।

गुणाधिकैर् गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः ॥

काव्ये विशेष्योऽर्थः समुचितैरेव विशेषणैः शोभां लभते—गुणोदारः साधुर् यथा अभ्यधिक-गुणैः सुहृद्भिः । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'चैत्रे सूत्रितयौवना' न्युपवना', न्यामोदिनी पद्मिनी, 67

ज्योत्स्ना-प्रावरणानि रत्नवलभी-हर्म्याणि, रम्याः स्त्रियः ।

सर्वं चारुतरं—न कस्य दयितम्?; यस्मिस्तु तद् भज्यते,

तद् (मृद-निर्मित' माम-भाजनमिव) क्षिप्र-क्षयं जीवितम् ॥'

अत्र—युधिष्ठिरस्य (आसादित-महाविभूतेर् मयनिर्मित-मणिमयसुभां, अभिमानिनो) विभवप्रभावे वर्ण्यमाने, (सकल-भावाऽभावस्वरूप) अभाववाद-उपदेशिनो महामुनेः आशय (विचार)।-ऽवसरे यदुक्तम्: 'कुसुमसमय-समुपचित-यौवनानि उपवनानि, मकरन्दाऽमोद-सुन्दरा अरविन्दिनी, ज्योत्स्ना (पट) प्रावृतानि रत्नवलभी-हर्म्याणि, रमणीया रमण्यश्च—इति सर्वमेतत् चारुतरं सर्वस्या-ऽभिमतम्; किं-तु—यस्मिन् (इदं) भुज्यते, तद् जीवितम् (आम-मृत्यात्र-निःसारं) क्षिप्र-क्षयम्—इति तद्विशेष्य-पदोत्कर्षकारि-विशेषणपद-उदितसौन्दर्येण पर्यन्त (निःसारता) निर्वेद-संवादि स्फुरद्-औचित्यम् आतनोति । न-तु, यथा भट्टलट्टनस्य—

प्र 'ग्रीष्मं द्विषन्तु जलदाऽगममर्थयन्तां 68

ते संकट-प्रकृतयो विकटास् तडागाः ।

अब्धेस्-तु मुग्धशफरी-चटुलाऽचलेन्द्र-

निष्कम्पकुक्षि-पयसो द्वयमप्य ऽचिन्त्यम् ॥'

अत्र—'ग्रीष्मं द्विषन्तु, मेघा-ऽगमं संकटस्वभावाऽविकटाः (विस्तीर्णाश्च) तटाकाः प्रार्थयन्ताम्; महाब्धेस्तु बालशफरीलोल-अचलेन्द्रनिश्चल (कुक्षि) पयसो

२३

विशेषण

और विशेषण वो—जो चीज़ की खूबियों को और  
भी उभार लायें !

67 मय द्वारा निर्मित उस अद्भुत मणि-मण्डप के स्वामित्व में युधिष्ठिर फूला उ  
न समाता था। व्यास मुनि ने, निर्वेद जगाने के लिए अवसर अनुकूल  
जान, समझाना शुरू किया : 'चैत के महीने में ये जवानी (की रौ) में गुथे  
उपवन, ये गन्ध-भरे सरोवर, ये रत्न-खचित (और 'लुभावनी चांदनी में  
छिटकते) महल, और उनमें—वो, बरबस-चुलबुलाती रमणियां : किस  
का दिल नहीं हर लेती बसन्त !'

—किन्तु जिसके लिए यह सब संभार आयोजित होता है, वह  
जिन्दगी : 'कच्ची मिट्टी का एक घड़ा' है बस। इतना ही है संसार का  
संसारिक जीवन का याथातथ्य !'

68 'गरमी से दुश्मनी और बरसात की चाह—छोटी-मोटी तलैय्यों को हो प्र  
तो हो; जिसके पेट में छोटी-से-छोटी मछलियां तिरती फिरें और बड़े-से-बड़े  
बड़े पहाड़ आराम की नींद सोयें—उस समुद्र को तो कभी दोनों का खयाल  
तक नहीं आता।'

—क्या तालाब स्वभाव में (चाह में) छोटे और आकार में मोटे

ग्रीष्म-घनाऽगमौ-अपि अगणनीयौ 'इति यदुक्तम्, तत्र—तडाग-विशेषणयोः 'संकट-विकट'पदयोः, परस्पर-विरुद्धार्थयोः, अनौचित्यं स्पष्टमवभासते । संकट-स्वभावस्य हि विकटत्वं (विस्तीर्णत्वं) नोपपद्यते । अथ—स्वभावे संकटत्वम्, आकारे विपुलत्वम् : तदपि (तटाकस्य) निश्चेतनस्य स्वभावा-ऽभावाद्—अनुपपन्नमेव ।

२४

उपसर्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

योग्योपसर्गसंसर्गैर् निरर्गलगुणोचिता ।

सूक्तिर् विवर्धते संपत् सन्मार्गगमनैरिव ॥

उचितैः 'प्र'-आदिभिर् उपसर्गैः सूक्तिः उन्नतिमासादयति (विभूतिरिव सन्मार्ग-गमनैः) । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'आचारं भजते, त्यजत्यपि मदं, वैराग्यमालम्बते,... 69

कर्तुं वाञ्छति संगभंग-गलित ( उत्तुङ्ग ) ।ऽभिमानं तपः ।

—दैवन्यस्त-विपर्ययैः सुख (शिखा) भ्रष्टः प्र-नष्टो जनः

प्रायस् तापविलीन-लोहसदृशीम् आयाति कर्मण्यताम् ॥'

अत्र—दुर्योधनस्य घोष-यात्रायां गन्धर्वं (बन्ध) पराभव-भग्नाऽभिमानस्य (प्राज्य-साम्राज्यम् उत्सृज्य, तपःप्रयत्न-अभिनिविष्टस्य) दुर्ग्रहे वर्ण्यमाने, यदुक्तम् : 'सर्वो जनः सुख-भ्रष्टः (प्रनष्ट-विभवः) सदाचारं भजते, मदं त्यजति, वैराग्यम् आश्रयति, सङ्ग-भङ्गेन विगलित-(उत्तुङ्ग) ।भिमानं तपः कर्तुं वाञ्छति—प्रायः (बाहुल्येन च) तापविगलित (लोह) पिण्ड-सदृशीं कर्मण्यताम् आयातीति'—(अत्र) 'उत्'-पूर्वतया सोपसर्गस्य तुङ्गशब्दस्य स्वभावोन्नतिर्, द्विगुणताम्-उपयाता, दुर्मद-अभिमान-अर्थौचित्यम् उच्चैः-करोति । न-तु, यथा कुमारदासस्य—

प्र 'अयि विजहीहि दृढोपगूहनं; त्यज, नवसंगम-भीरु, वल्लभम् । 70

अरुण-करोद्गम एष वर्तते : वरतनु, संप्रवदन्ति कुक्कुटाः ॥'

होते हैं ? और क्या—बेजान चीजों की भी कोई फ़ितरत होती है ?'

२४

उपसर्ग

उपसर्गों का काम है—क्रिया को सही राह दिखा देना ।

69 'किस्मत के जब थपेड़े पड़ते हैं और मनुष्य अपने (पुराने) सुख-वैभव के उ शिखर से गिर जाता है, तब उसमें सभ्यता और विरक्ति के बीज स्व-तः प्रस्फुरित होने लगते हैं। यही नहीं, सब आसक्तियां उसकी छूट जाती हैं; और वह अपने उत्तुंग 'अहं' को गलाने के लिए घोर से घोर तप में भी प्रवृत्त हो जाता है : भट्ठी में पिघले लोहे की भांति लचीला और विनेय !'

—प्रसंग है गन्धर्वों द्वारा अपमानित होने पर दुर्योधन में वानप्रस्थ-ग्रहण के लिए ज़िद। अहंकार की स्वाभाविक तुग वृत्ति को उत् ने और-भी बढ़ा-चढ़ा दिया है !

70 'सखी, अब तो सवेरा हो गया, जागो; इस पहली-रात में तुम्हें डर भी प्र लगता रहा होगा: आओ, छोड़ो भी (भीरु, पी' के कण्ठ-ग्रह को) !

अत्र—अभिनव (अनङ्ग) संगम-गाढम् आलिङ्गन-निश्चलाऽङ्ग (च्छन्न) अङ्गना-प्रबोधने सख्या यदुवतम् 'वल्लभं मुञ्च—प्रभातसंध्यायाम् अरुण-किरणोद्गमो वर्तते, कुक्कुटाश्च संप्रवदन्तीति', तत्र—'सं-प्र'उपसर्गयोः [शून्यशय्या-पूरणमात्रेण-इव] शब्दपूरणमात्रेण-निरर्थकत्वाद्.. ..अनुचितमेव ।

२५

निपातौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितस्थान-विन्यस्तेर् निपातेरर्थसंगतिः ।

उपादेयैर् भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥

उपादेयैश् च-आदिभिर् निपातैर् उचितपद-विनिवेशितैः काव्यस्य अर्थसंगतिर् असंदिग्धा, सत्-सहायैरिव, भवति । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'सर्वे स्वर्गसुखा-र्द्धिनः क्रतु-शतैः प्राज्यैर् यजन्ते (जडास्) 71  
—तेषां नाक-पुरे प्रयाति विपुलः कालः क्षणाऽर्धेन तत्;  
क्षीणे पुण्य-धने स्थितिर् न (तु यथा वेश्या-गृहे कामिनाम्) ।  
—तस्माद् : मोक्ष-सुखं समाश्रयत, भोः, सत्यं च नित्यं च यत् ॥'

अत्र—स्वर्गसुखस्य वेश्या-भोगवत् अवसान-विरस-चपलतायां प्रतिपादितायां, (निश्चल) मोक्षसुखस्य निःसंदेह-निश्चिता प्रतिपत्तिर् निपातपद-उर्बंहिता वाक्यार्थौचित्यं जनयति । न-तु, यथा श्रीचक्रस्य—

प्र 'देवो जानाति सर्वं—यदपि च तदपि; ब्रूमहे नीतिनिष्ठम् 72  
सार्धं संधाय जालाऽन्तर-धरणिभुजा, निर्वृतो बान्धवेन,  
म्लेच्छान् उच्छिन्धि, भिन्धि प्रतिदिनमयशो, रुन्धि विश्वं यशोभिः,  
सोदन्वद्-मेललायां परिकलय करं (किं च) विश्वंभरायाम् ॥'

अत्र—क्षितिपतिस्तुति-प्रस्तावे 'देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि' इति यदुक्तं, तत्र : पूर्वाऽपर-पदयोः अ-संबद्धत्वेन, निरर्थकऽ-एव निरुपयोगः चकारः, (प्रतत)-

सुनो—मुर्गों का वह संप्रवाद (तुम्हारे लिए प्रभाती गा रहा है) !'

—दो-दो उपसर्ग और दोनों ही निरर्थक । क्या संस्कृत में मुर्गों-की-वांग के लिये कोई शब्द नहीं था (नहीं है) ?

२५

### निपात

निपातों की भी कुछ अपनी-ही सार्थकता, अपनी-ही उपादेयता, होती है—वे निरे 'प(1)द'-पूरण कभी नहीं होते ।

71 'यज्ञ-यागादि द्वारा उपलब्ध स्वर्ग-सुख उतना ही क्षणिक होता है जितनी उ कि वेश्या के घर में धन-दौलत वार कर गुजारी एक रात ।—वस, अना-सक्ति ही एकमात्र सुख है जो : सच्चा भी है, स्थायी भी ।'

—सच्चा भी, स्थायी भी !

72 'नीति तो यह कहती है, महाराज, कि परायों के साथ सन्धि द्वारा, अपनों के प्र साथ शान्ति द्वारा, उच्चकों के साथ दण्ड-भेद द्वारा, प्रवृत्त होते हुए—राजा को चाहिए वह अपने यश और साम्राज्य के विस्तार में सोद्योग रहे ।'

—लेकिन, चापलूसी में 'बँसे तो, गरीब-परवर सब कुछ जानते हैं, क्या नहीं जानते ?

'यदपि च तदपि' को, व्यर्थ-में, क्यों घुसेड़ दिया ? :--

उत्सव-बहुजनभोजनपङ्क्तौ-अपरिज्ञातः स्वयमिव मध्ये समुपविष्टः—पश्चाद्-  
अभिव्यक्तः, परं लज्जादुर्मनौचित्यं प्रतनोति ।

२६

कालौचित्यं दर्शयितुमाह—

कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम् ।

जनाऽवर्जन-रम्येण वेषेणेव सतां वपुः ॥

कालकृत-औचित्य-युक्तेन अर्थेन वाक्यं चारुतामेति—वेष-परिग्रहेण-इव काल-  
योग्येन सताम् (अवसर-ज्ञानां) वपुः । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'यो ऽभूद् गोप-शिशुः पयो-दधि-शिरश्-चौरः करीषं-कषः, 73  
तस्यैवा ऽद्य 'जगत्पते, खगपते, शौरे, मुरारे, हरे,  
श्री-वत्सा-ऽङ्क'—जडै' रिति-स्तुतिपदैः कर्णौ नृणां पूरितौ :  
—ही, कालस्य विपर्यय-प्रणयिनी पाक-क्रिया ऽश्चर्य-भूः !'

अत्र—अमर्षविष-विषमाऽविष्कार-मुमूर्षुणा शिशुपालेन अभिधीयमाने : 'यः  
किल गोपालबालः पयऽ-उदधि-शिरश्-चौरः करीषंकषोऽ भूत्, तस्यैव अद्य  
जगन्नाथाऽदिभिः स्तुतिपदैर् नृणां कर्णौ पूरितौ : ही ! (बत ! ) कालस्य  
विपर्यय-कारिणी पाक-क्रिया आश्चर्य-भूमि' रिति', तत्र—अभूदिति-भूतकालेन  
आश्चर्यपरिपोष-रुचिरम्, आरब्धाऽधिकेप-लक्षणं, वाक्यौचित्यं कृतम् । यथा-वा,  
मालवकुवलयस्य—

उ 'च्युतसुमनसः कुन्दाः, पुष्पोद्गमै' रलसा द्रुमाः, 74  
मनसि च गिरं गृह्णन्ती 'मे—किरन्ति न कोकिलाः;  
अथ च—सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो,  
न च जरठताम् आलम्बन्ते क्लमोदय-दायिनीम् ॥'

अत्र—शिशुतरवसन्त-कान्तो'पवन-नवरसोल्लास-सूच्यमान-मनसिजोत्कण्ठ-

जैसे सहभोज में आमन्त्रितों के बीच कोई ही बिन-बुलाया 'मेहमान',  
पोल खुल जाने पर, आखिर, हंसी और लज्जा का पात्र ही बनता है !

२६

काल

काल-बुद्धि काव्य में भी उतनी ही अनुपेक्षणीय है  
जितनी कि लोकाचार में अवसरानुकूल वेषभूषादि  
की तमीज़ा ।

73 शिशुपाल खौल उठा : 'उसी को तुम आज मुरारि, हरि, जगदीश्वर और उ  
क्या-क्या-नही पुकार रहे—जो कभी एक अज्ञात ग्वाले के घर जन्मा था,  
दूध-मक्खन-मलाई चुराया करता था, गोये पाथा करता था... : जाहिल  
कहीं के !—अजीब हैं जमाने के रंग (भी) जो काले को भी चिट्टा कर  
सकते हैं !!

—क्या था, और आज क्या (हो गया) है ?

74 वसन्त का आरम्भ है: 'जुही झड़ रही है, किंशुक और अशोक नव-जात उ  
कलियों से बोझिल हुए जाते हैं, कोयलों की कृ अभी संयत है, सूर्य की  
किरणें शीत-हर हैं—तेज नहीं—क्लान्ति-प्रद नहीं...'

वर्णनायाम् : 'ऋतुसंधि-समुचिताः कुन्दाः, कुसुमाऽवसान-शून्यतनवः किंशुकाऽशोकाः—  
कलिकोद्गम-भराऽलसाः, मनसि कोकिलाः कलकूजितानि अनुसंधति, रवेर्-मरीचयः  
शीतोल्लासम् अथ निवारयन्ति—न-च संतापदायिनीं प्रौढताम् आलम्बन्ते',  
इति-उक्ते—वर्तमानकालपदेषु-एव हृदयसंवादसुन्दरम् औचित्यं किमपि आमोदते ।  
यथा-वा, भट्टभल्लट्टस्य—

उ मृत्योरास्यमिव ऽततं धनुरिदं, मूच्छेद्-विषाश् चे'षवः, 75  
शिक्षा सा विजिता-ऽर्जुना, प्रतिलयं सर्वाऽङ्ग-लग्ना गतिः ।  
अन्तः-क्रौर्यमहो शठस्य—मधुनो, हा, हारि गीतं मुखे !  
—व्याधस्या ऽस्य यथा भविष्यति, तथा—मन्ये वनं निर्मृगम् ॥'

अत्र—लुब्धकस्य धनुः-सायक-शिक्षा-गति-क्रौर्य-गीतानि तथा, यथा वनं  
निर्मृगं, भविष्यतीति—भविष्यत्कालः (प्रकृताऽर्थ-परिपोषेण) हृदयसंवाद-औचित्यम्  
आदधाति । न-तु, यथा, वराहमिहिरस्य—

प्र 'क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर् मण्डलं मासि-मासि, 76  
लब्ध्वा कांचित्, पुनरपि, कलां—दूरदूरा-ऽनुवर्ती !  
संपूर्णश्चेत्, कथमपि तदा स्पर्धयो- 'देति भानोः !  
—नो दीर्जन्याद् विरमति जड़ो, नाऽपि दैन्याद् व्यरंसीत् ॥

अत्र—रवेर्मण्डलं क्षीणः शशी प्रतिमासं प्रविशति, ततः कांचिद् आप्यायिकां  
कलां प्राप्य दूरे-दूरे भवति; परिपूर्णश्च तस्यैव स्पर्धया अभ्युदेति : दीर्जन्याद्  
न-विरमति, न-च दैन्याद् व्यरंसीदिति—एतौ 'विरमति' 'व्यरंसीत्' इति परस्पर-  
संगतं कालपदद्वयं (चन्द्रस्य सदृशयोर् दीर्जन्य-दैन्ययोः सर्वकालम्-अभिनिवृत्तयोर्)  
यद्-उपन्यस्तं, तत्र व्यरंसीदिति (विरुद्धाऽर्थत्वाद्) अनुचितमेव ।

नये उन्मादों, नयी उत्कण्ठाओं की ऋतु-सन्धि—वर्तमान !

- 75 'मौत के खुले मुंह-सा यह इसका धनुष, विष-बुझे ये इसके बाण, यह उ हुनर, यह चुस्ती, दिल में जुल्म और होठों पर 'चाशनियां-भरे गीत' :

—कैसी धोखे-की-टट्टी है : बस, जंगल का अब क्या बच रहेगा ?

- 76 'हर महीने चांद फिर सूरज के घेरे में जा पहुंचता है, और फिर चोरी- प्र चोरी बाहर निकल आता है (जैसे-तैसे कलाएं संचित करता हुआ), और फिर—सूरज से होड़ लगने लगता है !'

—हां, ऐसे-ही जिद्दी इन्सान भी होते हैं जो न अपनी दुष्टता मरके-छोड़ते हैं, न कभी उन्होंने नम्रता-का-स्वांग ही छोड़ा। ये दोनों ही धर्म (चांद में, और इन्सान में) स्थायी हैं, तो फिर—एक के साथ —'भूतकालिक' क्यों ?

देशौचित्येन काव्या-ऽर्थः ससंवादेन शोभते ।

परं परिचया-ऽज्ञंसी व्यवहारः सतामिव ॥

देशविषयौचित्येन हृदयसंवादिना काव्यार्थः, सतां व्यवहार इव, परिचय-सूचकः शोभते । यथा, (भट्ट)भवभूतेः—

उ 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्, 77  
विपर्यासं यातो घनविरल-भावः क्षितिरुहाम् ।

बहोर् दृष्टं कालाद् अपरमिव मन्ये वनमिदम्;  
निवेशः शैलानां 'तदिदमिति' बुद्धिं द्रढयति ॥'

अत्र—बहुभिर् वर्षसहस्रै रतिक्रान्तैः, शम्बूकवध-प्रसङ्गेन दण्डकारण्यं (पूर्वपरिचितं) पुनः-प्रविष्टः, रामः(समन्तादवलोक्य) एवं-ब्रूते—'पुरा यत्र नदीनां प्रवाहो[बभूव], तत्र इदानीं तटम्; वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययः । चिराद्-दृष्टं वनमिदम् अपूर्वमिव मन्ये; पर्वतसंनिवेशस्तु एतद् तदेव-इति बुद्धिं स्थिरीकरोति' इत्युक्ते, चिरकालविपर्यय-परिवृत्त-संस्थानक(ानन)-वर्णनया हृदय-संवादी देश-स्वभावः परमम्-औचित्यम् उद्घोतयति । न-तु, यथा, राजशेखरस्य—

प्र 'कर्णाटी-दशनाऽङ्कितः, (शित) महाराष्ट्री-कटाक्षा-ऽहृतः, 78

प्रौढाऽन्ध्रो-स्तन-पीडितः, प्रणयिनी-भ्रूभङ्ग-वित्रासितः,

लाटी-बाहु-विवेष्टितश्च, मलयस्त्री-तर्जनी-तर्जितः

—सोऽयं संप्रति राजशेखरकविर् वाराणसीं वाञ्छति ॥'

अत्र—'कर्णाट-महाराष्ट्र-आन्ध्र-लाट-मलय(ललना)संभोगसुभगः (कालेन गलित-राग-मोहः), राजशेखरकविः, संप्रति, वाराणसीं गन्तुमिच्छतीति' उक्ते, शृङ्गाररस-तरङ्गित-वराङ्गना-प्रसङ्गे अनङ्गनिरगल-दक्षिणापथ(देशोद्देश) मध्ये, 'प्रणयिनी-भ्रूभङ्ग-वित्रासित इति—देशोपलक्षणविरहित-केवलप्रणयिनीपदेन—देशौचित्यम्-उपचितमपि अनुचिततां नीतम् ।

यथार्थता का तकाजा है : कवि के लिए देशाचार-  
विषयक ज्ञान भी परमावश्यक है ।

77 'जहां उस जमान में नदियां हुआ करती थीं, आज रेत-ही-रेत नज़र उ आती है । बीहड़ और सुनसान भी—सब—अदल-बदल गये हैं ।... कहीं-और तो नहीं आ पहुंचे ?'

—नहीं : पहाड़ों ने अपनी जगह नहीं छोड़ी । सो, जनस्थान की (प्राकृतिक) देशीय स्थिति—

प्रसंगात्—पुनः वन में आये राम के मन में स्थिर हो जाती है ।

78 'भोगोपभोगों से विरत हो कर आज राजशेखर काशी-यात्रा चले हैं ।' प्र

—किन्तु 'कटाक्ष, दन्त-क्षत, आलिंगन, गलबांही, तर्जना' के विशिष्ट देशों का प्रसंग खुद-ही छेड़कर भी यह नहीं बताया कि किस देश की ललनाओं के भ्रूभंग ने उसे पहले-पहल दुनियादारी से बिदकाया था ?'

कुलौचित्यं दर्शयितुमाह—

कुलोपचितमौचित्यं विशषोत्कर्षकारणम् ।

काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम् ॥

पुरुषस्येव काव्यस्य कुलोन्नतमौचित्यं सविशेषोत्कर्षजनकं प्रायेण (बाहुल्येन) सहृदयानामभिमतम् । यथा, कालिदासस्य—

उ 'अथ स विषय-व्यावृत्ताऽत्मा, यथाविधि, सूनवे 79

नृपति-ककुदं दत्त्वा यूने सिता-ऽतपवारणम्,

मुनिवन-तरुच्छायां (देव्या तथा सह) शिश्रिये ।

—गलित-वयसाम् इक्ष्वाकूणाम् इदं हि कुल-व्रतम् ॥'

अत्र—'अथ स राजा, वृद्धः, तरुणाय सूनवे राज्यं प्रतिपाद्य, देव्या सह तपोवनं भेजे । विरक्त-चेतसाम् इक्ष्वाकूणाम्, अन्ते, इदमेव हि कुल-व्रतम्' इत्युक्ते, भूत-वर्तमान-भावनां तद्वंश्यानाम् औचित्यम् उन्मीलितम् । न-तु, यथा, यशोवर्मदेवस्य—

प्र 'उत्पत्तिर् भण्डकुले, यदभीष्टं तत् पदं समाक्रान्तम् । 80

भोगास् तथाऽपि, दैवात् सकृदपि भोक्तुं न लभ्यन्ते ॥'

अत्र—मम उत्पत्तिर् भण्डकुले, समीहितपद-आक्रमणं च निष्पन्नम्; तथाऽपि—दैवाऽर्पित-प्रियाविप्रयोगाद् भोगा भोक्तुं न लभ्यन्त इति-अभिहिते, स्व-संवेद्यमेव भण्डकुलम् (अन्यत्र-अप्रसिद्धं) स्वयमेव-निर्दिश्यमानम्, उत्कर्षं (विशेषण) विरहित- (केवल) पदोपादानेन, निरर्थकतया—निरौचित्यमेव । इक्ष्वाकु-कुलस्य तु निर्विशेषणत्वम् उपपद्यत एव—त्रिभुवनप्रसिद्ध-औचित्यत्वात् चरित्रस्य ।

व्रतौचित्यं दर्शयितुमाह—

काव्यार्थः साधुवादाहः सद्ब्रतौचित्यगौरवात् ।

संतोषनिर्भरं भक्त्या करोति जनमानसम् ॥

२८

कुल

और—कुल-परम्पराओं का परिज्ञान भी ।

79 'बुढ़ापे में शास्त्र-मर्यादानुसार जवान बेटे को खुद राज्यछत्र देकर पत्नी- उ  
सहित वानप्रस्थ-प्रवेश' :

—यह है (कभी न बदलने वाली) रघुकुल-रीत ।

80 'भांडों के (मशहूर) 'खानदान' में जनम लेकर और मन की मुराद (आइ. प्र  
ए. एस.) हासिल करके भी मुझ बदकिस्मत को जिन्दगी की मौज  
(बीबी के तलाक की वजह से)—नसीब कभी नहीं हुई ।'

—ये 'भांड' थे कौन ?

२९

व्रत

साथ ही—काव्य में सजीवता , कुछ भक्ति-रस सा,  
कुछ उदात्तता, संक्रान्त करने के लिए व्रत-विज्ञान

कमनीयता की कसौटी पर—iv.

काव्यार्थः समुचित-व्रतगौरवात् साधुवाद-योग्यः संतोषपूर्णं जनमनः करोति ।  
भक्तिर् विच्छित्तिः । यथा, मम, मुक्तावलीकाव्ये—

उ 'अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणु(भर)भस्म-भूषिताः । 81  
(लोल)भृङ्गवलय-ऽक्षमालिकास् तापसा इव विभान्ति पादपाः ॥'

अत्र—तपोधनोचित-व्रतव्यञ्जक-वल्कलभस्माऽक्षसूत्रप्रणयि-पादपवर्णनायाम्  
अचेतनानामपि शमसमय-विमलचित्तवृत्तिः औचित्यम् उपजनयति । न-तु, यथा,  
दीपकस्य—

प्र 'पुण्ये ग्रामे वने वा महति, सितपट-च्छन्नपाली-कपालीम् 82  
आदाय—न्यायगर्भ-द्विज-हुतहुतभुग्-धूमधूमोपकण्ठम्—  
द्वारं-द्वारं प्रवृत्तो वर' मुदर(दरी)पूरणाय क्षुधाज्जो  
मानी (प्राणी, सनाथः); न पुन' रनुदिनं तुल्य-कुल्येषु दीनः ॥'

अत्र—वैराग्य(निरर्गल)वर्णनायां, भिक्षा-कपालीम् आदाय क्षुत्-क्षामः  
कुक्षि-पूरणाय प्रवृत्तो, मानी वरं द्वारं-द्वारं यष्टि-निविष्टपाणिः परिभ्रान्तो—न  
पुन'-रनिशं तुल्य-कुल्येषु दीनः' इत्युक्ते, सहजप्रशम(विमलमानस) विश्रान्तिसंतोषम्  
उत्सृज्य तुल्यकुल्य-द्वेषविजिगीषापर'मेव वाक्यं भृशम्-अनौचित्यम् उद्भावंयति ।  
वरम् एतत् तीव्र(व्रत)कष्टं, न-तु स्वजन-दैन्ययाचनम्—इति संसारग्रन्थि-  
बन्धाऽभिमान-उपन्यासः ।

## का किञ्चित् परिचय भी अपरिह्ये ह ।

81 ये बल्कल, यह भस्म-सी पुष्परज, ये मंडराते अमर :

उ

—स्वयं शान्त-पूत मन को अचेतन पलाशों में भी व्रतोचित तप-  
स्विता तथा अन्तःशुचिता ही गोचर होती है ।

82 'मित्रों-नातियों में रोज-रोज की बेइज्जती के साथ टिक्कड़ खाने से  
बेहतर है कि मनस्वी, संन्यासियों का दण्ड और भिक्षा-पात्र लेकर, द्वार-  
द्वार से मांग कर पेट भर लिया करे—या फिर, किसी दूर-ग्राम या वन  
को निकल जाये जहां यज्ञादि में प्रवृत्त मननशील ब्राह्मण बसते हों ।'

प्र

—हृदय अशान्त है, मन में मँल बाकी है, स्वभाव में चैन अभी आया  
नहीं; वैराग्य का बाना फ़क़त अपनों ही से द्वेष और ईर्ष्या में जलते रहने  
के लिए बम्भ है, और अपनों के आगे हाथ पसारने से बचना—और मुफ़्त  
की जिद में खुद को खाक कर देना—भी आसक्ति को ढक देना भर  
है—मुक्ति का व्रत नहीं ।

## पुनर्विचारः

९८-१०

तत्त्वे सत्त्वे ऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥

प्रतिभायाम् अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽशिषि ।

(काव्यस्याऽङ्गेषु च) प्राहुर् औचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

एतेषु (पदप्रभृतिषु) स्थानेषु, मर्मसु-इव, काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितम्-  
औचित्यं—स्फुटत्वेन-स्फुरद् अवभासते ।

## अन्तर्भूमियां

९८-१०

कमनीयता का जो मार्मिक स्पन्दन इन (पदादि) काव्यांगों से फूटता-सा (बाहर-निकलने को उत्-सुक सा) प्रतीत होता है : उसका मूलस्रोत जानते हो, क्या होता है ?

—उचथस्य नव्यः, कवि का अन्तस् ! हृदय की वह अन्तर्लीला इस बहिरंग वैभव से कहीं अधिक कमनीय, कहीं अधिक 'मोहिनी', होती है ।

## पुनश्चर्चा

३०

तत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्यय-निश्चयात् ।

तत्त्वोचिता-ऽभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः ॥

तत्त्वोचिता-ऽख्यानेन कवेः सूक्तं, सत्यप्रत्यय-स्थैर्यात् संवादि, गृह्यतां याति । यथा, मम, बौद्धावदानलतिकायाम्—

उ 'दिवि भुवि फणिलोके, शैशवे यौवने वा, 83

जरसि, निधनकाले, गर्भशय्याऽश्रये वा.. ..

—सहगमन-सहिष्णोः सर्वथा देहभाजां

न-हि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ॥'

अत्र—प्राक्तनस्य कर्मणस् त्रैलोक्ये, शैशव-यौवन-वृद्धत्वा-ऽवस्थासु, देहिनां सह-गमने समर्थत्वात्, न विनाशो ऽस्ती'—ति-उक्ते निःसंशय (सकलजन-हृदयसंवादि) तत्त्वा-ऽख्यानम् औचित्यं ख्यापयति । न-तु, यथा, माघस्य—

प्र 'बुभुक्षितैर् व्याकरणं न भुज्यते, न पीयते काव्यरसः पिपासितैः । 84

'न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलम् : हिरण्यमेवार्जय (निष्फलाः कलाः) ॥'

अत्र—अर्थाऽर्थिता-परत्वेन धनमेव अर्जय, क्षुधितैर् व्याकरणं न भुज्यते, न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च विद्यया कुलं केनचिद् उद्धृतं मिति-उक्ते, सर्व-मेतद्—दारिद्र्य (दैन्य) विद्रुतधैर्य-कातरतया तत्त्व-विरहितं विपरीतम्-उपन्यस्तम् अनौचित्यं (सु-युक्तमेव) । विद्यानामेव सर्वसंपत्-प्रसविनीनां कुलोद्धरणक्षमत्वं, नाऽन्यस्य ।

# अन्तरीक्षा

३०

## पते की बात

क्या कवि कुछ पते-की-बात भी कह रहा है ?

83 जैसी करनी वैसी भरनी : करम की गति से बच कर निकल सकना उ  
असंभव है। कहीं जा छुपो—न इन्हें बूढ़े का लिहाज, न बाले का : ये ढूँढ़  
ही निकालेंगे तुम्हें ।

—सच्चाई हमेशा सन्देह-शून्य होती है और, इसीलिए, दिल  
लगती भी है ।

84 'काव्य, व्याकरण, विज्ञान—सब व्यर्थ हैं, किसी काम नहीं आने के; प्र  
एक पैसा ही है जो मुसीबत के वक़्त भी मददगार हो सकता है ।'

—गरीबी जब इन्सान को बे-हौसला और बुज़दिल बना देती है,  
वह ऐसे झूठे फ़िलसफ़े खड़े कर लिया करता है और 'विद्या कि विभूति  
को अपना और अपनों का उद्धार करने में असमर्थ पाया करता है !'

सत्त्वोचित्यं दर्शयितुमाह—

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः ।

विचार (रुचिरो-वार) चरितं मुमतेरिव ॥

सत्त्वोचितं कवेर् वचश् चमत्कारं करोति—मुमतेरिव विचार्यमाणं रुचिरम् उदारचरितम् । यथा, मम, चित्रभारते नाटके—

उ 'नदीवृन्दोद्दाम-प्रसर-सलिला-ऽपूरिततनुः 85

स्फुरत्स्फीतज्वाला-निबिडवडवाऽग्नि-क्षतजलः ।

न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पति'रपाम्

—जवस्थानां भेदाद् मवति विकृतिर् नैव महताम् ॥'

अत्र—पयोधि-व्यपदेशेन, युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षे अभिधीयमाने, सरित्पूर-प्रवर्धित-तनुर् वडवाऽग्नि-निष्पीतश्च अविधर्..विपुल-सत्त्वः..न-उत्सेकं न-संकोचम् स्पृशति । न-हि अवस्थानां भेदात्—महाऽशयानां विकारो भवती'ति-उक्ते, गम्भीर-धीरा सत्त्ववृत्तिर् औचित्यमातनोति । न-तु, यथा, भट्टेन्दुराजस्य—

प्र 'आश्चर्यम्—वडवानलः स भगवान् आश्चर्यमम्भोनिधिर् 86

यत्-कर्माऽतिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते :

एकस्या ऽशय-घस्मरस्य पिबतम् तृप्तिर् न जाता जलैर्,

अन्यस्याऽपि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जातः श्रमः ॥'

अत्र—वडवाऽनल-समुद्भयोः सत्त्व-महत्त्वे वक्ष्यमाणे, नाऽतिविपुलाशयत्वाद् एकस्य-पिबतः पयोभिस् तृप्तिर् न जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेदः । तदेतत् उभयम् आश्चर्यम् इति-उक्ते—(निःसंतोषतया च सततया कस्य) न वडवाग्नेर् लज्जा ?, न-च जलनिधेर् आश्रित-एकाऽर्थि-पूरणसामर्थ्यम् : इति-असत्त्वे सत्त्व-स्तुतिर् अनौचित्यमावहति ।

महिमा

क्या कुछ महामहिमता, पात्र की, कवि की उक्तियों में

भी उतरी है ?

- 85 'नदियां उसका घर भरती हैं तो उसका सिर फिर नहीं जाता; और उ  
बडवानल उसे दिन रात सुखाती ही रहती है तब भी दीनता उसे छू नहीं  
जाती ।'

महापुरुष भी उसी मिट्टी के बने होते हैं जिससे समुद्र की अचल  
गम्भीरता बनी होती है। धन आये-जाये : उनकी अन्तःसमता में अन्तर नहीं  
नहीं आता, नहीं आ सकता ।

- 86 'समुद्र और बडवानल—आश्चर्य के दो छोर हैं : एक की प्यास बुझने में ही प्र  
नहीं आती, और एक है कि उसे ज़रा-भर थकान माहसूस नहीं होती ।'

—समुद्र के पास अतुल सम्पत्ति है और वह एक भी मंगते की झोली  
नहीं भर सकता; और बडवानल है, तो निरन्तर असन्तोष की जीती-जागती  
मिसाल : लानत है दोनों पर !

अभिप्रायौचित्यं दर्शयितुमाह—

अ-कदर्थनया सूक्तम् अभिप्रायसमर्पकम् ।

चित्तमावर्जयत्येव सतां स्वस्थमिवा ऽर्जवम् ॥

अक्लेशेन-अभिप्रायसमर्पकं काव्यं हृदयमावर्जयति (सज्जनानां निर्मलमार्ज-  
वमिव) । यथा दीपकस्य—

उ 'श्येनाऽङ्घ्रि-ग्रह-दारितो'-त्तरकरो ज्याऽङ्क-प्रकोष्ठाऽन्तरः 87

आताम्रा-ऽधर-पाणि-पाद-नयन(प्रान्त) पृथू-रःस्थलः—

मन्ये ऽयं द्विज-मध्यगो नृप-सुतः कोऽप्य ऽम्ब निः-शम्बलः ।

पुत्र्ये, 'वं यदि—कोष्ठमतु (सुकृतैः प्राप्तो विशेषोऽतिथिः) ॥'

अत्र—स्वैर-रमणी, दिनाऽवसाने रमणीयं युवानं-पथिकम् आलोक्य, अभिप्राय-  
सूचकं जननीम् एवं-ब्रूते : यत्—असौ राजपुत्राऽकृतिः श्येनग्रह-नाराचपरिचय-उचितः  
सायं-समये प्राप्तः, इति उक्ते—मात्राऽपि अभिप्राय-पूरकम् अभिहितम्—पुत्रि;  
यदि एवं, तत्—कोष्ठाऽङ्कं प्रविशतु; सुकृतैर् विशेषो-ऽतिथिः प्राप्तः, पूज्य इति :  
एतेन स्फुटाऽभिप्राय-सूचकम् औचित्यम् उपचितम्-आचकास्ति । न-तु, यथा  
अस्यैव—

प्र 'अयि विरह-विचित्ते भर्तुरर्थे तथा-ऽर्ता 88

सपदि निपतिता त्वं पादयोश् चण्डिकायाः ।

स्वयमुपहित-धूपस्थालक-च्छत्रशृङ्गो-

'द्वलितमपि ललाटं येन नैवा 'ललक्षे ॥'

अत्र—सुचिराद्-आगते विनयवत्याः पत्यौ, ललाट(नख) उल्लेख-  
अपवह्ववचने सख्या समुपदिश्यमाने : हे विरहोन्मत्ते, भर्तुरर्थे चण्डिकापाद-पतने  
स्वयंस्थापित-धूपस्थालकोटि-क्षतमपि न-लक्षितं भवत्या ललाटम्—इति-उक्तौ,  
स्वैराऽपह्वव-शिक्षामात्रमेव उपलक्ष्यते; न-तु तस्याः, सख्या वा, कश्चिद्  
अभिप्राय-विशेषः ।

३२

ध्वनि

क्या कवि के शब्दों में हृदय की 'अ-कथित' वृत्ति की  
ध्वनि भी कुछ सुन पड़ती हैं ?

87 छिनाल ने संझा-वेले घर आकर कहा : 'मां, इन बाह्यानों में जो वह जवान उ  
है-ना, वह चौड़ी-छाती वाला—वो लाल-लाल होंठ, हाथ, पैर, आंखें  
उसकी... एक हाथ पर बाज्र के दो-एक घाव हैं तो दूसरी कलाई पर साफ़  
डोरी की रगड़ के निशान है—मेरा राजा...'  
'हां, बेटा, हमारे धन-भाग जो ऐसे मेहमान को भगवान् ने इस घर भेजा'  
—बुढ़िया ने अनुमति दे दी ।

—और रात आ ही रही थी !

88 'पिया के लिए पूजा-पाठ करो—कोई बुराई नहीं; लेकिन—विरह में, प्र  
इतनी बेसुध होकर, गौरी के चरणों में न गिर पड़ो कि तुम्हारी अपनी ही  
धूप-थाली के दन्डे तुम्हारा माथा फोड़ दें !'

—हर बात को दम्भ की शङ्कल देने में ट्रेन्ड होने का एक नमूना भर  
है, यह, लेकिन है बेमतलब ।

स्वभावोचित्यं दर्शयितुमाह—

स्वभावोचित्यमाभाति सूषतीनां चारुभषणम् ।

अकृत्रिमसामान्यं लावण्यमिव योषिताम् ॥

स्वभावोचितत्वं कविवाचाम्-आभरणम् आभाति—अकृत्रिमम् अनन्य-सामान्यं लावण्यमिव ललनानाम् । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'कर्णोत्तालित-कुन्तलाऽन्तनिपतत्-तोय (क्षण)।सङ्गना 89  
हारेणेव वृत-स्तनी पुलकिता शीतेन सीत्-कारिणी ।  
निर्धोताऽञ्जन (शोण) कोणनयना स्नाना-ऽवसाने ऽङ्गना  
प्रस्यन्दत्-कबरी (भरा) न कुरुते कस्य स्पृहा-ऽर्द्र मनः ॥'

अत्र—व्याससूनोः ( शुकस्य ) गाढवैराग्य-निःसङ्गस्य, गगनगङ्गा-तीरे स्नानोत्तीर्णास् त्रिदश-योषितो विवसनाः (तद्दर्शन-निःसंकोचाः) पश्यतः—प्रशम-विमलमनसः स्मर-व्यतिकर-निर्विकारतायां प्रतिपाद्यमानायां, कर्णमलोत्क्षिप्त-अलकपर्यन्तनिपतत्-तोयकणसंतानेन स्तनयोः-कृत (मुहूर्त) हारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्च-सीत्कारिणी, धौत्राऽञ्जन-अरुण-नयनाऽन्ता, प्रस्रवद्-मुक्तकेश (कलापा), स्नानोत्तीर्णा तरुणी—कस्य मनः स्पृहा-ऽर्द्रं न करोति—इति-उक्ते, स्वयम्-आर्द्रस्वभावः परमपि आर्द्रीकरोति—इति-उचितमेतत् । न-तु यथा, मम, तत्रैव—

प्र 'भक्तिः कातरतां, क्षमा सभयतां, पूज्यस्तुतिर् दीनतां, 90  
धैर्यं दारुणतां, मतिः कुटिलता, विद्याबलं क्षोभताम्,  
ध्यानं वञ्चकतां, तपः कुहकतां, शील-व्रतं षण्डताम्  
—पैशुन्य-व्रतिनां गिरां किमिव वा ना ऽयाति दोषा-ऽर्द्रताम् ॥'

अत्र—पिशुन-स्वभावे वर्ण्यमाने, भक्त्याऽदीनां गुणानां वैपरीत्ये प्रतिपादिते, पिशुनानां वचसां किं वा दोषा-ऽर्द्रतां न-अयाति—इति-अभिहिते, स्वयम्-अनार्द्रस्वभावस्य पर-आर्द्रीकरणम् अनुचितमेव ।

### अनलंकृता

क्या कवि के वर्णनों में कुछ 'अनलंकृत' स्वाभावाकृता भी हैं ?

89 'गंगा-स्नान के अनन्तर भीगे बालों से <sup>नी</sup>ब्रह्मिणी की धार-सी बहती आये और उ वही निरन्तर मोती बन-बन उरोजों को कुछ ढक-सा भी दे, आंखों का काजल धुल जाने से उन्हें कुछ लाली-सी छू जाय, कुछ सरदी में और कुछ पुलकों में ठिठुरती-सी...' :

—स्वयं रस में डूबी सुन्दरता किसको रस में नहीं डुबो देगी ? स्वाभाविकता का एक पार्श्व यह है और एक, इन्हीं दिव्यांगनाओं के संमुख, शैशव में ही जिसमें विरक्ति प्रबल हो चुकी है ऐसे शुक के अबोध-निर्मल-प्रशान्त चित्त की 'मोहिनी' की 'अविकारी भाव' है !

90 'उसकी नज़र में 'भक्ति कायों के गिड़गिड़ाने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, प्र स्तुति-पूजा बस आन्तरिक दीनता का ही एक प्रतिरूप है.. जप-ध्यान-तप—सब ढोंग, और चरित्र-स्खलन से बचने का निश्चय—नपुंसकता' :

—पतितात्मा हर चीज को पतनोन्मुखता के रंगों में ही बोर देती किन्तु, जो चीज खुद शुद्ध हो वह किसी और को बोरेगी कैसे ?

सारसंग्रहौचित्यं दर्शयितुमाह—

सारसंग्रहवाक्येन काव्यार्थः फलनिश्चितः ।

अ-दीर्घसूत्र-व्यापार इव कस्य न संमतः ॥

सारसंग्रह-वाक्येन काव्यार्थः मुनिश्चित-फलः, शीघ्रकारिणऽ-इव व्यापारः, कस्य न-अभिमतः ? यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'विविध (गहन-गर्भ) ग्रन्थसंभार-भारैर् 91  
मुनिभि 'रभिनविष्टैस् तत्त्वमुक्तं न किञ्चित् ।  
कृत-रुचिर-विचारं सारमेतद् महर्षेर्—  
अहमिति भवभूमिर् ना-ऽहमित्येव मोक्षः ॥'

अत्र—भगवद्गीता-ऽर्थविचारे सारसंग्रहो ऽभिहितः, यत्—किल मुनिभिर् अनेकभेदभिन्न-शास्त्रजडैर् अभिनविष्ट-मतिभिस् तत्त्वम् (उपादेयं) न किञ्चित् कथितम् । भगवतो महर्षेर्-व्यासस्य सुमतेर् विमलविचारो-'त्तीर्ण'(निश्चित)म् एतदेव यत्—अहंकारः संसार-मूलभूमिर्, ममता-परित्याग एव मोक्ष इति । तत्—संक्षेपेण भवक्षयो-'पदेशः प्रकृताऽर्थस्य परमम्-औचित्यं पुष्पाति । न-तु, यथा, परिव्राजकस्य—

प्र 'तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः, भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः । 92  
जरा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः, तृष्णा न याता वयमेव याताः ॥'

अत्र—वयमेव तप्ता भुक्ता जीर्णा याता इति-उक्ते, निःसार-अच्चारुत्वात् अपर्यवसितो वाक्यार्थः, फल-शून्यतया, सारसंग्रहो-'चितं न किञ्चित् प्रतिपादयति ।

गागर में सागर

क्या कहीं-कहीं वह गागर-में-सागर भी भर सका है ?

91 इन भारी-भरकम पोथियों में कुछ नहीं धरा, और न तपोरत मुनि जन ही उ कभी अपनी ज़ुबान इस मामले में खोलेंगे। गीता का सार स्वयं भगवान् (व्यास) के शब्दों में इतना ही है कि सब मुसीबतों की जड़ है—‘अहंकार’; और सच्ची शान्ति का एकमात्र और सच्चा उपाय है—अहंकार-से-मुक्ति।

—निर्मल चित्त के संमुख किस प्रकार सारी उलझनें आपसे आप सुलझ जाती हैं !

92 ‘ये भोग, तप, जरा और तृष्णा, उलटे, हमें ही खतम कर जाते हैं। वस्तु ३३ नहीं गुज़रता, हमहीं गुज़र जाते हैं।’

—शब्द-योजना में कुछ आकर्षण शायद है किन्तु तत्त्व कुछ भी नहीं : हृद्य नहीं।

प्रतिभौचित्यं दर्शयितुमाह—

प्रतिभा-ऽभरणं काव्यम् उचितं शोभते कवेः ।

निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूति-विभूषितम् ॥

प्रतिभा-अलंकृतं कवेः काव्यम् उचितं, गुणवतः कुलमिव वि-मलं—लक्ष्म्या-  
प्रकाशितं शोभते । यथा, मम, लावण्यवत्याम्—

उ 'अदय, दशसि किं त्वं बिम्ब-बुद्ध्या ऽधरं मे ? 93

भव, चपल, निराशः पक्व-जम्बूफलानाम् !

—इति दयितमवेत्य द्वारदेशा-ऽप्त' मन्या

निगदति शुक' मुञ्चैः कान्तदन्त-क्षतौष्ठी ॥'

अत्र—कयाऽपि, द्वारदेश-आप्तं प्रियं ज्ञात्वा, अन्यकामुक-दशनखण्डित-ओष्ठया  
(संप्रति) तदागमन-अनभिज्ञया-इव, शुकमुद्दिश्य, 'निर्दय, किं त्वं बिम्बफल-लोभात्  
अत्ररंमम विदारयसि? चपल, पक्वानां जम्बूफलानाम् इदानीं निराशो भव ।  
कुपिता, तुभ्यं नो दास्यामिति, तेन-उच्चैःप्रत्यायन-अपह्लव-नवोन्मेष(प्रज्ञा) चातुर्य-  
चारुवचनम् औचित्य-चमत्कारं करोति । यदाह भट्टतीतः—

३ प्रमा] 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति । न-नु यथा मम, तत्रैव—

प्र नियति दयिते, गृहे विशयने, निर्माल्य-माल्ये हृते, 94

प्राप्ते प्रात' रसह्य-रागिणि' परे(वाराऽवहारे) ऽन्यया—

द्वाराऽलीन-त्रिलोचना व्यसनिनी सुप्ताऽहमेकाकिनी'

त्युक्त्वा नीवि-विकर्षणैः स चरणा-ऽघातै' रशोकी-कृतः ॥'

अत्र—वेश्या, व्यालग्न-कामुकस्य वारा-ऽवहारं विधाय, नव-कामुकेन सह  
क्षपायां नीतायां (प्रभाते तस्मिन् नियति) शय्याकुसुमाऽदि-संभोगलक्षणे निवारिते,  
वारवञ्चन-कुपिते गाढाऽनुराग(ग्रह) प्रस्तमतौ' पूर्व-कामुके प्राप्ते, त्वत्(आलोकन)-

३५

वक्त्र की सूझ

क्या उसके पात्रों में (ऊंट की गलत-करवट पर)

कभी-कभी कुछ प्रत्युत्पन्न मति, कुछ हाज़िर-

जवाबी, भी रंग लाई है ?

93 'कम्बस्त कहीं का, (बिम्ब समझ कर) मेरे होंठ ही काटने लगा ! अच्छी उ  
बात है,—आज से तेरे जामुन-शामुन सब बन्द : कुट्टी !'

—घरवाला शायद वापिस आ चुका है, लेकिन कदम अन्दर पड़ने से पहले ही कैसी सूझ से अपनी करतूतों पर परदा डाल लिया तोताराम को जोर-जोर से यह कह कर—विदग्धा ने ! देखा ?

अकल बड़ी !

[ प्रमा 3

94 रात तो किसी और के साथ (अपने ही घर) गुज़ार दी; और जब पुराना प्र  
प्रेमी, कामुकता पर काबू न पाता हुआ, अली-सुबह खुद ही इधर आ निकला (क्योंकि 'शमा' तो अपना वचन निभाने निकली नहीं थी), वह बोली : 'मुझे तो सारी रात दरवाज़े पर आंखें गाड़े आखिर, अकेली थी-ना, अब नींद आने लगी थी।—वासना और भड़क उठी और प्रेमी ने...सुथनिया की तरफ..., तो 'हटो भी !' और उसने—लात कस मारी !

—सारा गुस्सा प्रेमी का काफ़ूर हो गया ! वह अ-शोक के फूलों की

अन्तरीक्षा (कमनीयता की कसौटी पर—V.)

काङ्क्षिणी (व्यसनिनी) द्वारन्यस्त-नयना अहमेकाकिनी मुप्तेति—प्रत्यायना (वचन) विलीनमन्यु (स-रभस) सरस-नीविकर्षण (उद्यत-आकृति) कृत-ईर्ष्याकोपया चरण (नलिन) प्रहारैर् अशोकी-कृतः—शङ्काशल्य-उन्मूलनेन निःशोकः संपादितः, संतत-पुलकाऽङ्कुरत्वात् अशोक-तरु-तुल्यतां नीत इति वा (वाक्यार्थः)—केवल (सत्यविप्रलम्भ) प्रागल्भ्यमात्रम् एव गणिकायाः, गाढ-रागमूलतां<sup>1</sup> च [कामुकस्य], प्रतिपादयति; न-तु प्रतिभोद्भूताम् औचित्य-कणिकां सूचयति ।

३६

अवस्थौचित्यं दर्शयितुमाह—

अवस्थोचितमाधत्ते काव्यं जगति पूज्यताम् ।  
विचार्यमाणरुचिरं कर्तव्यमिव धीमताम् ॥

अवस्थोचिततया काव्यं जगति श्लाघ्यतामायाति—मतिमतामिव कृत्यं विचार-निर्घर्ष-रुचिरम् । यथा, मम, लवण्यवत्याम्—

उ 'मुक्तः कन्दुकविभ्रमस्, तरलता त्यक्तैव बाल्योचिता, 95  
मौग्ध्यं निर्धुत', माश्रिता गजगतिर्, भ्रू-लास्य' मम्यस्यते :  
यद्—नर्मोमिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्य-दिव्यं वचः,  
तद्—विद्यः सुभगाऽभिमान-लटभाऽभावे निबद्धो भरः ॥'

अत्र—यदुक्तं 'कन्दुकक्रीडा त्यक्ता, बालचापल्यं परिहृतम्, मौग्ध्यं निरस्तम्, गजगति' रङ्गीकृता, भ्रूलता (लास्या)-ऽम्यासः क्रियते, नर्मोमिषु वचन-वैचित्र्यम् आसूत्रितम् : तेन जानीमहे—शैशवाऽवस्थां, समुत्सृजन्त्या, यौवन'-माश्रयन्त्या (प्रौढताम्-अनारूढयाऽपि) नवसंभोग-गौरवगतेन सुभगाऽभिमानेन—बालया लटभा-भावे भरो निबद्धः' इति-अभिहिते, (स्फुट-मृदु-संबद्ध) वयोऽवस्था (मध्य)संधि-वर्णनायाम् औचित्यं स्फुरत्-इव अवभासते । न-तु, यथा राजशेखरस्य—

तरह खिलखिला उठा !! उसे शक हो भी कैसे सकता था (शमा का नया—  
उसे अज्ञात—प्रेमी) 'जोश' जा चुका था, बिस्तर, फूल-इतर—सब-कुछ  
वहां से पहले-ही उठ चुका था ! खर; लेकिन यह सब तो सचाई को छुपाने  
की वेश्याओं की साधारण चातुरी मात्र है, बांधे हाथ का खेल भर है;  
मोके की सूझ-बूझ की तो बू भी कहीं-नहीं इसमें ।

३६

### 'बाली' उमरिया

क्या पात्रों के कारनामे उनकी उन्न-वगंरह के मुताबिक हं ?

- 95 'बचपन की वह खेलकूद, वह चंचलता, वह अबोध मधुरिमा नहीं रही; उ  
अब तो चाल-ढाल में, मज्जाक में, समझदारी में—हर चीज में कुछ अन्दाज  
भरता जाता है :

—और कोशिश के साथ (बटोरा जा रहा है): फूल खिलने से पहले  
कली में कुछ अभिमान जाग उठा हो और वह अंगड़ाइयां भरनी शुरू कर  
दे !

प्र ज्यायान् धन्वी—नवधृतधनुस्-ताम्रहस्तोदरेण, 96  
 क्षत्र-क्षोद (व्यतिकर) पटुस्—ताटका-ताड़केन,  
 कर्णाऽभ्यर्ण-स्फुरितपलितः क्षीर-कण्ठेन सार्धम्  
 —योद्धुं वाञ्छन् न-कथं ममुना लज्जते जामदग्न्यः ?'

अत्र—भार्गवः स्थविराऽवस्था-स्थितः (स्थिरतर) पराक्रम-कर्कश-प्रौढो  
 (धनुर्धरः) शिशुना रामेण अनुग्रहण-अरुणित (कोमल) कर (कमल) तलेन,  
 क्षत्रिय-क्षय (संरम्भ) प्रगल्भः ताटका-ताड़केन, स्फुरत् (आकर्ण) पलितः संभाव्यमान  
 (जननी-स्तन) क्षीरकण्ठेन अमुना युयुत्सुः—कथं-न लज्जते, इति-उक्तेः पेशलतया  
 राघवा-ऽवस्थायां जामदग्न्य (वस्था) विपरीतायां प्रतिपाद्यमानायां, ताटका-  
 ताड़केनेति विरुद्धाऽधिवासो अर्थः चेतसि किमपि अनौचित्येन संकोचमादधाति ।

३७

विचारौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः ।

वेद्यतत्त्वा-ऽवबोधेन विद्या-इव मनीषिणाम् ॥

विचारौचित्येन सूक्तयश् चारुतां यान्ति—ज्ञेय (स्वरूप) ज्ञानेन विदुषां  
 विद्याः इव । यथा, मम, मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'अश्वत्थाम-वधाऽभिधान-समये सत्यव्रतो-त्साहिना 97  
 मिथ्या धर्मसुतेन जिह्वा-वचसा हस्तीति यद् व्याहृतम् ।  
 सा सत्याऽमृत (रश्मि) -वैर' मसमं संसूचयन्त्यास्, तदा,  
 शङ्के, पङ्कज-संश्रयेण मलिनारम्भा विजृम्भा श्रियः ॥'

अत्र—द्रोणनिघना-ऽख्याने सत्यव्रत-उत्साहवता धर्मतनयेनाऽपि मिथ्या,  
 लघुवचसा, कुञ्जर इति यदुक्तं, सा—सततं (सत्य) चन्द्रद्वेषं सूचयन्त्याः श्रियः,  
 शङ्के, पङ्कज-संश्रयेण मलिन-व्यपारा विजृम्भा—इत्यभिहिते, ससंवाद-लक्ष्मी-

96 'उम्र इतनी कि धौले आ गये, इतनी बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य करके भी हवस नहीं मिटी; पर—लड़ने भी चला अवके, तो एक दूध-पीते बच्चे के साथ जिसके लाल-लाल नन्हे हाथों में अभी-अभी एक नकली तीर-क्रमान किमी ने जी बहलाने को थमा दिया है। लाज तो नहीं आती !'

—'विरुद्ध स्थिति' यहीं तक कुछ ठीक थी। 'ताटका-वध' का स्मरण कराकर वह चौंर नहीं रह जाती; उलटे, खलती है।

३७

### 'अज्ञात' तथ्य

क्या कभी वह किसी 'अज्ञात तथ्य' के प्रकाशन द्वारा  
वस्तुस्थिति को स्पष्ट भी कर देता है ?

97 'मरा हाथी था; किन्तु, धर्मावतार (युधिष्ठिर) ने झूठ ही 'अश्वत्थामा उ मारा गया, अश्वत्थामा मारा गया !' चिल्ला दिया।—क्यों ? मुझे तो लगता है यह पद्म का चन्द्रमा से पुराना वैर ही था जो उस कीचड़ की जाई (पद्मा) ने एक चन्द्रवंशी की वाणी में वह वक्रता, वह पाप, भर कर उस दिन चुका दिया !'

—सत्य यह था ('जिसका हमें ख्याल भी न आ सकता था।);

अन्तरीक्षा (कमनीयता की कसौटी पर—v.)

स्वभाव-परिभावनतया, तत्त्वा-ऽवबोधेन—मूल-विश्रान्त्या, फल-पर्यवसायी विचारः सहृदयसंवेद्यम् औचित्यं व्यनक्ति । न-तु, यथा मम तत्रैव—

प्र 'प्रम्लाने चिर(काल)वृत्त(दयिता)केशा-ऽम्बरा-ऽकर्षणे 98  
 क्रूरं राक्षस-वैशसं यदि कृतं भीमेन दुःशासने ।  
 तत्—काल-क्षमिणा (कुशा-ऽश्म)परुषाऽरण्यप्रवासे चिरं  
 किं पीतं, तत, तापमग्न-महिष-स्वेदाऽम्बु-पृक्तं पयः ॥'

अत्र—भीमसेन-चरिते विचार्यमाणे, त्रयोदशवर्ष-पर्युषिते कृष्णा-केशाऽकर्षण-पराभवे, भीमेन भीमं राक्षस-कर्म दुःशासने यत् कृतं, तत्—सद्यःकृत-आर्द्राऽपराध (काल)क्षमिणा सुचिरं (दर्भसूची-विषमाऽश्म)परुष-वनवासे किं ग्रीष्मताप-निमग्नमहिष-स्वेदस्रुति-पृक्तं पयः पीतम्—इति-अनुपपन्न-कृत्ये अभिहिते, कारण- (विचार)भावाद्—निर्मूल-उपालम्भमात्रम् अनौचित्यम् अनुब्रुवन्ति ।

३८

नामौचित्यं दर्शयितुमाह—

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः ।  
 काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवाद-पातिनी ॥

काव्यस्य कर्म औचित्यं, तेन—नाम्ना (पुरुषस्येव) गुणदोष-व्यक्तिः संवादिनी ज्ञायते । यथा, कालिदासस्य—

उ 'इदं' मसुलभवस्तु-प्रार्थनादुर्निवारः 99  
 प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।  
 किमुत—मलयवाता-ऽन्दोलिता-ऽपाण्डुपत्रैर्  
 उपवन-सहकारैर्, दशितेष्व 'ङ्कुरेषु ?'

अत्र—प्रारम्भे-एव मम इदं-मनः पञ्चबाणः सुदुर्लभवस्तु-प्रार्थनादुर्निवारः शकलीकरोति; किमुत—लीलोद्यान-सहकारैर्, मलयानिल-आन्दोलितबालपल्लवैर्,

अब, युधिष्ठिर दोषी नहीं रह जाता ।

- १४ 'द्रौपदी के चीर और केश हरण के बरसों-पुराने भूले किस्से को लेकर ही यदि भीम ने दुःशासन को इस नृशंसता से मारना था, तो क्यों न यह बदला उसने बनवास की मुसीबतों झेलने के वक़्त ही ले लिया जब कि वह अपमान अभी ताज़ा था और पाण्डवों को सुथरा पानी तक पीना भी उन दिनों नसीब न होता था ?'

—'तब क्यों ऐसा नहीं किया गया ?' इसके सही कारण को जानबूझ कर छुपाये रखने से, कवि की भीम से शिकायत ही खुद ही बेबुनियाद हो जाती है ।

३८

### 'समर्थ : पदविधि:'

किन्तु—क्या वह शब्दों का प्रयोग, सोच समझकर,  
सार्थकता के साथ करता है ?

- ११ 'मनोरथ की दुर्लभता ने मुझे पहले ही बेचैन कर रखा है । ऊपर से यह हवा उ निगौड़ी पत्तों को क्षणक्षण खिसका कर आम के नये बौर दिखा रही है :'

—कैसे बच सकता है दुःष्यन्त फूलों की डोरी-वाले के इन क्रांतिल बाणों से ?

अन्तरीक्षा (कमनीयता की कसौटी पर—V.)

अङ्कुरेषु दर्शितेषु—इत्युक्ते, मदनस्य पञ्चबाणा-ऽभिधानम् उचितमेव । यथा-  
वा, मम, बौद्धावदानलतायाम्—

उ 'तारुण्येन निपीत-शैशवतया साऽनङ्ग-शृङ्गारिणी 100

तन्वङ्ग्या सकलाऽङ्ग-सङ्गम-सखी भङ्गिर् नवाऽङ्गीकृता ।

निःसंरम्भ-पराक्रमः पृथुतराऽरम्भा-ऽभियोगं विना

साम्राज्ये जगतां यया विजयते देवो विलासा-ऽयुधः ॥'

अत्र—यौवन-निपीत-शैशवतया, तन्वङ्ग्या अनङ्ग (शृङ्गार)वती सर्वाऽङ्ग-  
संगम-सखी सा काऽपि अभिनवा भङ्गिर् अङ्गीकृता, यया—निष्प्रयत्न-पराक्रमः,  
प्रभूततर-आरम्भसंभारं विहाय, त्रिभुवन-साम्राज्ये जयति देवो विलासायुधः—  
इत्युक्ते, कामस्य विलासाऽयुध इति नाम उपपन्नमेव । तन्वङ्गी-भङ्गचैव (सिद्ध)  
त्रैलोक्याऽधिपत्य-विजिगीषायां कामसायकाऽदीनां नैरर्थक्यात् । न-तु, यथा  
कालिदासस्य—

प्र 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति । 101

तावत् स वह्निर् भवनेत्र-जन्मा भस्मा-ऽवशेषं मदनं चकार ॥'

अत्र—पश्यतो भगवतस् त्रिनेत्रस्य स्मरशर-निपात-क्षोभे वर्ण्यमाने, तद् निकार  
(कोप) शमाय 'संहर संहर प्रभो क्रोधमिति' यावद् वचः खे देवानां चरति, तावद्  
भव-नेत्रोद्भवः स वह्निर् मदनं भस्म (राशि) शेषम् अकार्षीत्—इति-उक्ते, संहारा-  
ऽवसरे द्रस्य भवा-ऽभिधानम् अनुचितमेव ।

३९

आशीर्वचनौचित्यं दर्शयितुमाह—

पूर्णाऽर्थ-दातुः काव्यस्य संतोषित-मनीषिणः ।

उचिता-ऽशीर् नृपस्येव भवत्य ऽभ्युदयाऽवहा ॥

संपूर्णार्थ-समर्पकस्य संतोषित-विदुषः काव्यस्य नृपतेरिव उचितम् आशीः-  
पदम् अभ्युदयाऽवहं भवति । यथा, अस्मद्दुपाध्याय-गङ्गकस्य—

[०० 'बचपना जवानी में कहीं लुप्त हो गया है। और नाजनीन ने एक बिलकुल नये नाज-सिगार को जसे अपनी अभिन्न-सखी बना लिया है—नाज जो, देखो ना, उसके रोम-रोम को बांहों में भर रहा है, (नाज जो अकेला ही लोक-लोकान्तरों को एक चुटकी में काबू करने के लिए ( कामदेव के हाथ में, एक अ-द्वितीय अस्त्रवत्) पर्याप्त है !'

—अस्त्र विलास हो, और उसे उठाने वाला विलास-का-वीर (न कि फूलों की डोरी वाला): है-ना ?

[०१ 'इससे पहले कि देवताओं की चीख भगवान् के कान तक पहुंचती, शिव की क्रोधाग्नि कामदेव को भस्म-शेष कर चुकी थीं।

—किन्तु संहार के देवता (हर) को 'उत्पत्ति का बेबता' (भव) कह कर पुकारना सार्थक नहीं कहा जा सकता।

३९

समर्थो वरविधिः

और वही वि-लक्षण सार्थकता—क्या उसके 'आशीर्वाचनों'

में भी कुछ मिलती है कि नहीं ?

उ 'स कोऽपि प्रेमा-ऽर्द्रः प्रणय(परि)पाक-प्रचलितो 102  
 विलासो ऽक्षणां देयात् सुखमनुपमं वो मृग-दृशाम् ।  
 यदाकूतं दृष्ट्वा पिदधति मुखं तूणविवरे  
 निरस्त-व्यापारा भुवनजयिनः पञ्च विशिखाः ॥'

अत्र—स कोऽपि असामान्यप्रेमप्रणय(विश्रान्ति)प्रगल्भ-कुरङ्गदृशां निरुपमो  
 नयन-विलासः सुखं वो देयात्, यद्-अभिप्रायम् आलोक्य—भुवन-जयिनः कामस्य  
 पञ्च सायकाः समाप्त-व्यापाराः, तूणीर-विवरे (लज्जयेव) मुखं पिदधति—  
 इति-उक्ते, सुखं वो देयात्, इति आशीः-पदम् उचितमेव (प्रिया-नयन-विभ्रमस्य  
 सुखाऽर्पण-योग्यत्वात्) । यथा-वा मम, वात्स्यायनसूत्रसारे—

102 प्रेम-पगी बांकी नजरिया को (मृगनयनी की) देख कर जैसे, इस प्रकरण उ  
 मे, खुद पर शरमाते—कामदेव के उन नञ्जाकत के पांच तीरों ने, वापिस,  
 तरकस में मुह छुपा लिया और—'जो सुख तुम्हे हम देने आये थे वह तो  
 तुम्हे पहले-ही मिल रहा है '...

—'तुम्हारा सुहाग बना रहे ' : और वो विदा हो गये ?

## भारती

उ

‘कामः कामं कमलवदना-नेत्रपर्यन्त-वासी

103

दासीभूतत्रिभुवनजनः प्रीतये जायतां वः ।

दग्धस्याऽपि त्रिपुर-रिपुणा सर्वलोक-स्पृहाऽर्हा

यस्या ऽधिक्यं रुचि’ रतितराम् अञ्जनस्येव याता ॥’

अत्र—कामः प्रीतये वो जायतां, यस्य दग्धस्याऽपि अञ्जनस्य-इव अधिकं  
हचिर् याता : इति-उक्ते, प्रीतये जायतामिति उचितं—कामस्य प्रीत्याऽत्मकत्वात् ।  
न-तु, यथा अमरकस्य—

## निमेष

103 'शिव के हाथों मिट चुकने पर भी जिसकी राख (पद्ममुखी ललनाओं की <sup>३</sup> उ आंखों में काजल के मिस से) अब पहले-से कहीं ज्यादा ज़बरदस्त है—  
'मोहिनी' है, वह कामदेव तुम्हें सदा सुखी रखे ।'

—काम मरा कब था ? वह सदा बांके-नयना में अ-च्युत है !

## पूर्णाहुतिः

प्र 'आलोलाम् अलकावलीं विलुलितां बिभ्रत्-चलत्-कुण्डलं 104  
किञ्चिन्मृष्ट-विशेषकं तनुतरैः स्वेदा-ऽम्भासां सीकरैः ।  
तन्वङ्ग्याः सुतरां रताऽन्त-समये वक्त्रं रति-व्यत्यये  
तत् त्वां पातु चिराय । किं हरि-हर-स्कन्दाऽदिभिर् देवतैः ?'

अत्र—तन्व्या रति-व्यत्यये, लोल-अलकं, चलत्-कुण्डलं, स्वेद-सलिलेन किञ्चिद्-  
उन्मृष्टतिलकं... यद् मुखं, तत् त्वां पातु; किं हरि-हर-स्कन्दाऽदिभिर् देवतैर्  
रित्युक्ते, पातु त्वाम्—इति-अनुचितम् । आनन्दयतु त्वाम्—इति-उचितं स्यात् ।

## परिशिष्ट

- 104 'छोड़ो इन झूठे देवी-देवताओं को—हरि को, हर को, और कान्हा को ! प्र  
'बांकी इटलाती लटे, डोलते कर्ण-कुण्डल, पसीने से कुछ पुंछती-सी  
बिदिया—मैं तो कहता हूँ : संभोग-निरति पर मेरी सलोनी' की यह  
अस्त-व्यस्त चितवन--नुम्हारी 'राखी' बनी रहे ।'

—'रक्षक' कि सुख : 'a joy for ever' ?

यथा वः सु सहासति

अन्येषु [वा] काव्याऽङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयम् औचित्यम् उत्प्रेक्षणीयम् ।  
तदुदाहरणानि, आनन्त्यात्, न प्रदर्शितानि :

इति-अलमतिप्रसङ्गेन ।

## विसर्जन

काव्यांगों का वर्गीकरण शायद संभव हो; किन्तु कवि हृदय की निरन्तरता का, स्रोतस्विता का, 'विवेचन' कौन कर सकता है ?

—पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा ऽवशिष्यते !

√ उच समवाये

*Among ancient legends there is one told of a little boy who amused himself at play by modelling clay images of sparrows. Delighted with his creations he clapped his hands—whereupon the little clay birds took flight in alarm.*

## अनुक्रमेण

पुनः

— त्रित आप्त्यः —

- A. व्यासपूजा
- B. प्रमा[ण]त्रयम्
- C. इदं कविभ्यः पूर्वैभ्यः
- D. नान्दी
- E. कारिकाः
- F. स्फुटत्वेन-स्फु रत्
- G. परोक्षितकारकम्
- H. निविद्
- I. परार्थम्
  
- J. *Notes*
- K. अस्ति कश्चिद् विशेषः
- L. *An Aucitya Thesaurus*
  
- M. *A Near-Contemporary*

---

- N. *Additional Notes*

*All references are to kārikās (१-३६) or to examples discussed (1-104) with indications वृ [त्ति] and च [र्चा] here and there.*

### A. व्यासपूजा

43

सत्यं मनोरमा रामाः

[89 कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत् 91 विविधगहनगर्भग्रन्थसंभारभारैः]

### B. प्रना[ण]त्रयम्

1. औचित्येन विना रुचि प्रतनुते दृ 2. अविरोधी विरोधी वा 47च  
3. प्रज्ञा नवनवोन्मेष- 93च

### C. इव कविभ्यः पूर्वैभ्यः

अमरुकात् 47 104	नारायणात् 11 28
[आनन्दवर्धनात्—प्रमा2 : 47च]	परिमलात् 1 27 52 62
इन्दुराजात् 60 86	परिव्राजकात् 92
उत्पलराजात् 42	प्रभाकरात् 57
कार्पटिकात् 19	प्रवरसेनात् 29 50
कालिदासात् 7 10 21 22 61 79	बाण(भट्ट)ात् 12 51 56
99 101	[भट्टतोत, see तौत
कुमारदासात् 70	भट्टनारायण, see नारायण
गङ्गाकात् 102	भट्टप्रभाकर, see प्रभाकर
गौड़कुम्भकारात् 55	भट्टभल्लट sec भल्लट
चक्रात् 72	भट्टभवभूति, see भवभूति
चन्द्रकात् 16 37 38	भट्टलट्टन (भट्टवल्लभ?), see लट्टन
चन्द्रकात् 13	(वल्लभ?)
[तौतात्—प्रमा3 : 13च]	भट्टेन्दुराज, see इन्दुराज]
दीपकात् 82 87 88	भल्लटात् 75
धर्मकीर्त्तैः 2	भवभूतेः 8(i+ii) 32 77

माघात् 84	वराहमिहिरात् 76
मातृगुप्तात् 66	व्यासात् 43
मालवकुवल्यात् 74	श्यामलात् 25
मालवरुद्रात् 17 59	[श्रीचक्र, see चक्र
मुक्तापीडात् 35	श्रीप्रवरसेन, see प्रवरसेन
यशोवर्मदेवात् 80	श्रीमदृत्पलराज, see उत्पलराज
राजशेखरात् 5 6 9 14 18 31 48	श्रीहर्ष, see हर्ष ]
58 78 96	हर्षात् [प्रमा I : ६४] 3 15 20 33
लट्टन (वल्लभ?) आत् 68	34

#### D. नान्दी

a. अनुश्रुति है कि, समुद्र-मन्थन की सफलता पर जब देवता रंगरलियों में मस्त थे, किसी ने जाकर असुरों को सूराख दे दिया। वो भो आ धमके ! उस आड़े वक्त विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किया था।

अनुश्रुति के इन तीन अंगों में—i. अमृत की कल्पना हम मर्त्यों की अ-मर्त्य होने की साध का फल है, तो ii. 'मोहिनी' हमारी ही प्रतिमूर्त हो-उठी कामुकता है, और (उसकी आंखों में) iii. काजल-स्पर्श कवित्व-वृद्धि का चमत्कार है।

b. हमारे समर्थन में स्वयं क्षेमेन्द्र के 'वात्स्यायनसूत्र' से उद्धृत ये शब्द हो सकते हैं: 'भस्मीभूत काम की राख को पार्वती ने आंखों में लगा लिया।' शिव की दुरमि-सन्धि उससे जाती रहा। कोन कहता है काम मर चुका है ?'

काम-देव ही अ-च्युत है, वही एक अ-मृत है, रस-सिद्ध है। (अच्युत का सम्बन्ध काव्य में—माइयालोजी में नहीं—'कान्तासंश्लिष्टदेहो ऽ(प्य)विषय-मनसां यः परस्ताद् यतीनाम्' बम-भोल से अधिक है। Cf., here, 5g for लक्ष्मी's भीतिभ्रमत्-तारक.) ४९

c. एक और प्रसंग में (59) इसी काजल (के 'द्रावक' उद्दीपन) को एक सद्यः-स्नात देव-मुन्दरी की आंखों से कवि ने 'धुला' दिया है: क्या उसे एक शिशु के अ-बोध (अ-बुद्ध) भाव का प्र-शम बना देने के लिए ?

d. क्षेमेन्द्र की अञ्जन-कल्पना का मूल (स्रोत), संभवतः, भामह में उपलब्ध यह (१.५५) पूर्वाभास है :

१ और कहते हैं, तभी से औरतें अपने पतियों को वश में रखने के लिए, उनका मान भंग करने के लिए (वञ्चने), 'नैनो' में काजर डारती आयी हैं।

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्यात् धत्ते शोभामसाध्वपि ।  
कान्ता-विलोचन-न्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥

### E. कारिकाः

अकदर्थनया सूक्तं ३२  
अर्थोच्चित्यवता सूक्तिर् १५  
अलंकारास्त्वलंकाराः ५  
अवस्थोचितमाधत्ते ३६  
उचितं प्राहुराचार्याः ७  
उचितस्थानविन्यासाद् ६  
उचितस्थानविन्यासश्चैर् २५  
उचितार्थविशेषेण १३  
उचितेन विचारेण ३७  
उचितेनैव लिङ्गेन २१  
उचितैरेव वचनैः २२  
उपसर्गे निपाते च ९  
औचित्यरचितं वाक्यं १२  
औचित्यस्य चमत्कार- + ३  
काव्यं हृदयसंवादि ३०  
काव्यस्यालमलंकारैः ४  
काव्यार्थः साधुवादाहः २९  
कालौचित्येन यात्येव २६  
कुर्यात् सर्वाशये व्याप्ति १६

कुलोपचितमीचित्यं २८  
[ कृता हि वञ्चन दृष्टिर् १ ]  
कृत्वाऽपि काव्यालंकारां २ +  
चमत्कारं करोत्येव ३१  
तिलकं बिभ्रती सूक्तिर् ११  
तेषां परस्परं कुर्यात् + १८  
देशौचित्येन काव्यार्थः २७  
नाम्ना कर्मानुरूपेण ३८  
पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे ८  
पूर्णार्थदातुः काव्यस्य ३९  
प्रतिभाभरणं काव्यं ३५  
प्रतिभायामवस्थायां १०  
प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये १४  
यथा मधुरतिक्ताद्याः १७ +  
योग्योपसर्गसंसर्गे २४  
विशेषणैः समुचितैर् २३  
सगुणत्वं सुवृत्तत्वं १९  
सान्धव्यं शोभते वाक्यं २०  
सारसंग्रहवाक्येन ३४

स्वभावौचित्यमायाति ३३

### F. स्फुटत्वेन स्फुरत्

#### i. निकषा मीमांसाम्

पदे ११ : 1-3  
वाक्ये १२ : 4-6  
प्रबन्धार्थे १३ : 7-10

#### ii. निकषा काव्यशास्त्रम्

गुणे १४ : 11-14

अलंकरणे १५ : 15-19

रसे १६-१८ : 20-48 :-

a. अदिलष्टम् १६ : 20-42—

शृङ्गारे 20-22; हास्ये 23-25;  
करणे 26-27; रौद्रे 28-29;  
वीरे 30-32; भयानके 33+34,  
35; बीभत्से 36-37; अद्भुते  
38-39; शान्ते 40-42;

**b. हिलष्टम्** (अङ्गाङ्गभावेन) १७—  
१८: 43-48—शान्तशृङ्गारयोः  
43:47-48; वीभत्स-शृङ्गारयोः  
44; वीर-करुणयोः 45; शान्त-  
शृङ्गार-करुण-वीभत्सानाम् 46.

iii. निकषा व्याकरणम्

क्रियायाम् १९ : 49-50

कारके २० : 51-62 :—

कर्त्तरि 51-52; कर्मणि 53-54;

करणे 55-56; सम्प्रदाने 57-58;

अपादाने 59-60; अधिकरणे 61-62

लिंगे २१ : 63-64

वचने २२ : 65-66

विशेषणे २३ : 67-68

उपसर्गे २४ : 69-70

निपाते २५ : 71-72

काले २६ : 73-75—

भूते 73; वर्त्तमाने 74;  
भविष्यति 75.

iv. निकषा लोकतन्त्रम्

देशे २७ : 77-78

कुले २८ : 79-80

व्रते २९ : 81-82

v. निकषा अन्तरीक्षाम्

तत्त्वे ३० : 83-84

सत्त्वे ३१ : 85-86

अभिप्राये ३२ : 87-88

स्वभावे ३३ : 89-90

सारसंग्रहे ३४ : 91-92

प्रतिभायाम् ३५ : 93-94

अवस्थायाम् ३६ : 95-96

विचारे ३७ : 97-98

नाम्नि ३८ : 99-101

आशषि ३९ : 102-104

## G. परीक्षितकारकम्

अत्र वल्कलजुषः 81

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा 79

अदय दशसि किं त्वं बिम्बबुद्ध्या 93

अभिनववधूरोपस्वादः 17

अयि विजहोहि दूढोपगहनं 70

अयि विरहवित्तं 88

अश्वत्थामवधाभिधानसमये 97

अहौ वा हारे वा 42

आचारं भजते त्यजत्यपि मदं 69

आदाय वारिं परितः सरितां मुखेभ्यः 60

आलोलामलकावलीं विलुलितां 104

आश्चर्यं वडवानलः स भगवान् 86

आहारं न करोति नाम्बु पिबति 52

इदमसुलभंस्तुप्रार्थनादुनिवारः 99

इह निवसति मः शंखरः क्षमाधरणां 61

उत्पतिर् भण्डकुले 80

उद्दामोत्कालिकां विषाण्डुरहञ्चिं 20

ऊरूमूलनखमार्गपङ्कितभिः 10

एतस्माज्जलधेर् मिताम्बुकणिकाः 59

एतस्याः स्मरमंज्वरः 14

कण्ठे कृत्तावशेषं 33 +

कर्णाटीदशनाङ्कितः 78

कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत् 89

कामः कामं कमलवदना— 103

कृशः काणः खंजः 37

कृष्णेनाम्बु गतेन रन्तुमधुना 38

कुमुमशयनं पाषाणो वा 41  
 क्रोधं प्रभो संहर संहरेति 101  
 क्षीबस्येवाचलस्य 44  
 क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर्मण्डलं 76  
 खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैः 16  
 गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो 47  
 गाण्डीववस्त्रुवमार्जनप्रणयिनः 45  
 ग्रीष्मं द्विषन्तु जलदागममर्थयन्ता 68  
 चिताचक्रं चन्द्रः 18  
 चुम्बनसक्तः सो ऽस्याः 25  
 चित्रे सूचितयौवनान्युपवना- 67  
 च्युतमुमनसः कुन्दाः पुष्पो- 74  
 जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो 56  
 जातं वंशे भुवनविदिते 7  
 ज्याजिह्वया बलयिनो- 8(ii)  
 ज्यायान् धन्वी नवधृतधनुः .96  
 तत्र स्थितं स्थितिमतां वर देव 62  
 तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः 92  
 तारुण्येन निपीतशैशवतया 100  
 तीक्ष्णान्तस्त्रीकटाक्ष-46  
 त्रैलोक्याक्रमणैर् वराहविजयैर् 65  
 दण्डेन्दुरुहिरलग्ने 29  
 दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुरा- 59  
 दिवि भुवि फणिकोके 83  
 देवो जानाति सर्व 72  
 देवो दयावान् विजयो जितात्मा 4(i)  
 धीरः स किमोरंजटासुरारिः 4(ii)  
 नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलं 85  
 नष्टं वर्षवरैर् मनुष्यगणनाभावाद् 34  
 नाज्यं निशामुखसरोरुहराजहंसः 66  
 नाले शौर्यमहोत्पलस्य 6  
 निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृति 63  
 निर्यति दयिते 94  
 नीवारप्रसाराग्रमुष्टिकबलेर् 35

परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगाद् 3  
 पुण्ये ग्रामे वने वा महति 82  
 पुरा यत्र स्रोतः 77  
 पौलस्त्यः प्रणयेन याचन इति 58  
 प्रत्यग्रोपनताभिमन्युनिधने 26  
 प्रम्लाने विरकालवृत्तदयिता- 98  
 बालेन्दुवृक्राप्यविकासभावाद् 21  
 बुभुक्षितैर् व्याकरणं न भुज्यते 84  
 भक्तिः कातरतां क्षमा समयतां 90  
 भग्नाहितश्चमितवातविब्रोध्यमानः 54  
 भोगे रोगमयं सुखे क्षयभयं 40  
 मग्नानि द्विषता कुलानि 1  
 महाप्रलयमारुतक्षुभित- 11  
 माणं मुञ्चं देह बल्लभजणे 48  
 मार्गं केतकसूचिभिन्नचरणा 24  
 मुक्तः कन्दुकविभ्रमस्तरलता 95  
 मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं 75  
 यः प्रख्यातजवः सदा स्थितिविधो 49  
 यत् पार्वतीहृद्यकचग्रहणप्रवीणे 9  
 युद्धेषु भाग्यचपलेषु 13  
 यो ऽभूद् गोपशिशुः पयोदधिशिरः- 73  
 यो-यः शस्त्रं विभर्ति 28  
 यो ऽयमश्वः पताकेयं 8(i)  
 लाङ्गूलेन गभस्तिमान् बलयितः 55  
 लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः 2  
 वरुणरणसमर्था स्वर्गभंगैः कृतार्थाः 64  
 वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं 22  
 विश्रान्तविग्रहकथो 15  
 विविधगहनगर्भ- 91  
 वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः 32  
 शीतेनोद्घृषितस्य 19  
 शौर्याराधितभर्गभार्गवमुनेः 30  
 श्येनाङ्घ्रिग्रहदारितोत्तरकरो 87  
 स कोऽपि प्रेमादेः 102

सग्गं अपारिजातं 50  
 सत्यं मनोरमा रामाः 43  
 सदा सक्तं शत्यं 53  
 समस्ताश्चर्याणां 39  
 सम्बन्धी पुरुभूभुजां 5  
 सर्वापायत्रयाश्रयस्य नियतं 36

सर्वे स्वर्ग-सुखार्थिनः क्रतुशतैः 71  
 सीधुस्पर्शभयाद् न चुम्बसि मुखं 23  
 स्ननयुगमश्रुस्नातं 51  
 स्त्रीणां मध्ये मलीलं 31  
 हारो जलाद्रवमनं 12  
 हा ष्टङ्गारतरंगिणीकुलगिरे 27

### i. औचित्येन

1 3 4 (i+ii) 5 7 8 (i+ii) 46 48 49 51 53 55 57  
 11 12 15 19 20 21 23 59 61 63 65 67 69 71  
 24 26 28 30 31 33+34 73 74 75 77 79 81 83  
 36 38 40 41 43 44 45 85 87 89 91 93 95 97  
 99 100 102 103

### ii. अनौचित्येन

2 6 9 10 13 14 16 17 18 58 60 62 64 66 68 70  
 22 25 27 29 32 35 37 72 76 78 80 82 84 86  
 39 42 47 50 52 54 56 88 90 92 94 96 98 101  
 104

### iii. Unsparing

39 54 64 90 94 98

### H. निविद्

अवसरसार 54  
 कविकर्णिका 2  
 चतुर्वर्गसंग्रह 40  
 चित्रभारतनाटक 85  
 नीतिलता 30 49 64 65  
 बौद्धावदानकल्पलता 44 83 100  
 मुक्तावली 81

मुनिमतमीमांसा 26 36 39 41 45  
 46 67 69 71 73 89 90 92  
 97 98  
 ललितरत्नमाला 63  
 लावण्यवती 23 24 53 93 94 95  
 वात्स्यायनसूत्रसार 103  
 विनयवल्ली 4 (i+ii)

## I. परार्थम्

i. 'औचित्य-विचार' का ही एक पूरक-अंश क्षेमेन्द्र का **सुवृत्ततिलक** है जिसमें, कर्ण-बोध (अर्थात् 'श्रुति') पर बल देते हुए, आचार्य ने विषय, परिस्थिति एवं मनःस्थिति के अनुकूल 'वृत्तौचित्य' का सोदाहरण निर्देश किया है। श्रुति-बोध के बिना कवि कैसे जान सकता है कि द्रुतविलम्बित में सन्धि-अभाव में ही, और वसन्ततिलका में ग्रन्थि-अभाव में ही, कमनीयता (की भूमि) निहित होती है ?

ii. (२) शिक्षा, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा (कुछ चमत्कार (३), कुछ गुणदोष-विवेक (४) अधिगत करके)—अकवि भी कुछ कवित्व (१) निज में साधित कर सकता है : प्रातिभ कवि की प्रवाहमयता (५) न सही, कवित्व-बुद्धि तो कुछ हासिल कर ही सकता है।

iii. यदि 'भावयित्री प्रतिभा' 'औचित्य-चर्चा' का विषय है, तो 'कारयित्री (प्रतिभा)' **कविकण्ठाभरण** का : (शक्ति-व्युत्पत्ति)-अभ्यास (की तिस्रो' देवीर्, मयोभुवः) द्वारा कुछ सरसता वाणी में और जीवन में, हां, आ जाय—और क्या चाहिए ? किन्तु, एतदर्थ, मन का तत्त्वार्थनिवेशी होना ('औचित्य': iv-v) अनिवार्य है।

iv. क्षेमेन्द्र का 'तत्त्वार्थनिवेश' काव्य तक सीमित नहीं था; वह लोक-गत सभी विषयों को अपना क्षेत्र बनाये था—यह उनके **समयमातृका**, **दपंदलन**, **वेशोपदेश**, **नर्ममाला**, **कलाविलास**, **चारुचर्याशतक**, **चतुर्वर्गसंग्रह**, **लोकप्रकाशकोश** आदि की परस्परापेक्षिता से ही सिद्ध हो जाता है। हमें तो उनकी तीनों **मंजरियों** में भी, **दशावतार** तथा **अवदानलता** में भी, वही 'एक लोक-संग्रही की व्यापक दृष्टि' ही नज़र आई है।

वैसे—बहुश्रुत-ता में क्षेमेन्द्र का नाम सायण, भोज और हेमचन्द्र के साथ लिया जाता है।

v. क्षेमेन्द्र का कालनिर्णय—(१) **राजतरंगिणी** में दिये अनन्तराज के समय की तुलना से, (२) आचार्य-पुत्र (सोमेन्द्र) द्वारा **अवदानकलता** की भूमिका में छोड़े संकेतों से, और (३) स्वयं **बृहत्कथा** तथा **दशावतार** में छोड़े ग्रन्थसमाप्ति-परक निर्देशों से कुछ-न-कुछ (१०२८-६३) हो ही जाता है।

## J. Notes

१ वञ्चने दृष्टिः—त्रांके नैना।

अ-च्युताय=औचित्यकारिणे=25 अच्युतमूलाय (स्थितप्रज्ञाय)।

३ रसजीवितभूतस्य औचित्यस्य; ५ रससिद्धस्य=रसेन श्रृङ्गारादिना सिद्धस्य (प्रसिद्धस्य)' काव्यस्य, धातुवादेरस-सिद्धस्य-इव; ८ सकल-

काव्यशरीरजीवितभूतस्य, १० मर्मसु-इव स्फुटत्वेन-स्फुरत् ;  
 (वाक्यार्थः) ४ सजीवऽ-इव अवभासते; (9) इति-ओचित्येन प्रसिद्धेन  
 (स्पष्टेन=स्फुरता)'; 13 लावण्यपेशलतनूर् ललितलललना';  
 42 ओचित्यस्य जीवितभूतस्य रक्षां कुर्यात्; ५ स्थिरम्=स्थायि-  
 (भाव-वत्)' 48.

१० मर्म, नब्ज, pulse.

११ विच्छित्तिम् 1 = 8 छायाम् = २९ भक्तिम् ।

१५ Why is a she-jackal known as शिवा (पार्वती)? 16

१६ वराऽमवस्य-इव सहकारवेधेन 23, whisky hocused (with  
 mango-juice?) for a newer taste.

30 ब्राह्मी (प्रदिष्टा) स्थितिः = (ब्राह्मणोचिता निःसंरम्भ-  
 गंभीरावष्टाम्भा) स्थितप्रज्ञता = अ-च्युतभावः. . . ; cf. शतपथ  
 (१३.२.१३.४):—

“प्रजापतिकरकामयत—सर्वान् कामान् आप्नुयाम्; सर्वा व्यष्टीर्  
 व्यश्नुर्वीयेति । स एतमश्वमेधं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् । तदाहुः—  
 कस्मिन् ऋतौ अभ्यारम्भ इति ?—‘ग्रीष्मे अभ्यारैतेति’, उ एके  
 आहुः, ‘ग्रीष्मो वै—क्षत्रियस्य ऋतुः, क्षत्रिय-यज्ञ उ वा एष यदश्वमेध  
 इति’...तद्-वै—‘वसन्ते-एव अभ्यारभेत । वसन्तो वै ब्राह्मणस्य  
 ऋतुः । यऽउ-कश्च यजते, ब्राह्मणीभ्य यजते । तस्माद्—वसन्ते-एव  
 अभ्यारभेत । सा याऽसौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति.’ . . .

33 कृत् (1), शृङ्खला and किङ्किणी for neck, hands and  
 feet, respectively.

34 पर्यन्ताऽश्रयिभिर निजस्य सद्गं नाम्नः किरातैः कृतम्, i.e.,  
 कांदिशीकैः = कुतोमुखैः (32)—पुरुषगणना-विहीनतया (being  
 unmanly) धैर्यविरहकातराणाम् !

37 शुनकस्य, of the despicable dog.

40 निरगलः, cf. निरगलगुणोचिता क्रिया २४ (निर्-बन्धनम्, as of  
 domestic dogs with a strap).

41 त्वगप्यश तारवी = वल्कलम् ; क्षेप्यं = सहर, cf. क्षीबस्येव 44.

42 विकल्पप्रतिपादकम् = अभेद (वासना)-विरुद्धम् : part self-less.  
 धाराऽधिरुद्ध-सर्वसाम्यं, flooded by an overwhelming  
 feeling of oneness with All. अवस्कर-कूटः, scrapeheap.

१७-१८ कुश-ल, a cook (expert in his art).

बेसवार-पानादिषु, in the curiously 'sweet, sour, samovar' drinks and dishes.

44 अनंग-क्रिया, the art of love-making which leaves the other not-master of self and so becomes his or her own undoing.

46 स्तिमितवृत्तयः, timid.

48 सब्बकसाः all powerful, carrying everything else before it (in a sweep).

१९ सुवृत्तत्वम्, गोल-गोल गाल or suppleness of figure.

१९-२६ क्रियादिषु औचित्यकांक्षाम् अधिकृत्य, आनन्दवर्धनः—

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धस्, तथा कारकशालिभिः—

कृत्-तद्धित-समासैश्च—द्योत्यो ऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥

२२ भुजमण्डली (64)?—लिङ्ग के असाधु प्रयोग ने 'सारा पौरुष ही वीर का', जैसे, हर लिया !

२३ विशेषण-माला as a befitting, be-coming grace is known as परिकर in our Rhetorics, best exemplified in Veda (whence the Nairukta School).

२४ निश्चलाङ्ग-च्छन्न-अंगना-प्रबोधने : सन्न.. ! (७०)

२६ 'काल' का भी एक अशुद्ध प्रयोग ढूँढ निकाला, वह भी, त्रिकाल-विद् वराहमिहिर से ! 76

२८ उत्पत्तिर्, भण्डकुले 80 : क्षेमेन्द्र ने पूछा है क्या 'भण्ड-कुल भी इश्वाकुओं की तरह ही लोक-विश्रुत था कि कवि ने अपने बारे में और कुछ बताने की आवश्यकता नहीं समझी ?' बात शायद बड़ी सीधी है कि : उसी 'खानदानी' मिरासी ने (जिसकी कि सब मज़ाक किया करते थे) शाहज़ादी से शादी करके दुनिया का मुह बंद कर दिया। लेकिन (था तो मिरासी ही-न वह, आखिर) !—दो दिन बात जब बीबी तलाक दे गई—जाते-जाते वह उसीका अपना-ही फटा-मुंह बन्द करती गई !—यह, शायद, उसी बन्द मुह की (रमा-रमणकी) बोलती है।

१ इसी को कहते हैं 'कुल-रीत' : 'कुलोपचित' कुत्सा-निकाय !

२९ भक्त्या=विच्छित्या !, न च भक्तिरसेन ?—चित्रम् : 'स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयितुम्' अलम् !

३२ Cf. अभिप्राय here with प्रबन्धार्थ (poet's inspiration) at १३, and with प्रतिभा (ready wit) at ३५, and विचार (second thoughts, if one could be patient enough to 'go deep into it all', into the वेद्यतत्त्व) at ३६.

३४ फल, conclusion, essence, synopsis.

91 अनेकभिन्नशास्त्रजडैः, cf. कालिदास's well-known jibe at प्रजापति as a वेदाभ्यासजड पुराणपुरुष. (M-A.)

३५ 94 वार-अवहारे=वार-वञ्चने; cf. वार-अंगना=वार-चनिता (from √वन, √वण संभवतौ—to share).

३६ लटभा-भावः, puberty; or has it something to do with the mischief of the लटS (those 'loosening locks') with the advent of adolescence?—Just that : O Beauty ! Cf. बिल्हण—केशबन्धविभवैर् लट (भ)ानां पिण्डतामिव जगाम तमिस्रम् (like a fleetsome, darkling, Cloud 'tween her and me! ).

३७ सत्यमेव अमृतरश्मिश्च=चन्द्रमासु, तेन असमं वैरम् ।

३८ बलदेव उपाध्याय, however, defends this use of भव (101) as apt, against क्षेमेन्द्र, at p. 104 of his BS, II.

The argument of ३८ seems to stress the point that words necessarily, essentially, can never be synonyms. Arabic, e.g., has about a century of expressives for 'love'—wherein each bath a different shade and, so, is meant to be used for a different situation. In Sanskrit that reminds one of Bāṇa's rare *le mot juste* sense—and in Bāṇa alone, in the whole of Indian literature, probably !

३९ आकूत=अन्दाज, अन्दाजे-बयां—102.

103 Against १ and 5g's suspected ref. to Kamalā, note: कमल(वदन)ानेत्रपर्यन्तवासी कामः, यस्य रुचिर् (दग्धस्याऽपि) अञ्जनस्यैव अतितरां-याता ।

### (b) सच्छायं संस्कृतेन

29

दनुजेन्द्र - रुचिर - लग्ने यस्य नख - प्रभा - विशद्रे ।  
गुप्यन्ती विह्वलिता गलितव्यस्तस्तनांशुका महामुरलक्ष्मीः ॥

48

'मानं मुञ्चत, दत्त बल्लभजने दृष्टिं तरंगोत्तराम्,  
तारुण्यं दिवसानि पञ्च दश वा पीनस्तनस्तम्भनम्' :  
—इत्थं कोकिलमञ्जुशिञ्जनमिषाद् देवस्य पञ्चेषुगो,  
दत्ता चित्रमहोत्सवेन सहसा आज्ञेव सर्वकथा ॥

स्वर्ग—अपारिजातम्, कौस्तुभलक्ष्मीरहितं मधुमथस्य— उरः ।  
स्मरामि मयनपुरतो—अमुग्धचन्द्रं हरजटाप्राग्भारम् ॥

### K. अस्ति कश्चिद् विशेषः

i

#### *Criticisms with a difference*

—a sampling only—

- 8 योऽयमश्वः—अत्रार्थे रामायणकथाऽतिक्रमेण रामतनयस्य सहजविक्रमानु-  
सारिणी परप्रताप-असहिष्णुता प्रबन्धस्य रस-बन्धुराम् ओचित्यच्छायां  
प्रयच्छति ।
- 18 चिताचक्रं चन्द्रः—योऽर्थस्तु हृदयसंवादी स, यदि अनौचित्यस्पर्शलेशरहितम् तत्,  
अधिकतराम् अलंकारशोभां पुष्पाति ।
- 19 शीतेनोद्धृपितस्य—अत्र अनौचित्यस्पर्शपरिहारेण-केवलं हृदयसंवाद-  
सोन्दर्यमेव स्वाद्गुतामादधाति ।  
(Also cf. 'कामिनी' पदपरित्यागेन, केवलं जम्बुक्याः कर्तृत्वेन च,  
etc., at 44-)
- 37 कृशः काणः खंजः—अत्र अशुचिवर्णश्चेः—स्वभावजगुप्सितयोनेः शूनकस्य  
किमेतेर् वीभत्सविशेषणार् अतिशयनिबन्धानुबद्धैर् अधिकमुद्भासितम्?  
एतेरेव पुरुषगतैर् जगुसा परं गौरवमावहति ।
- 45 गाण्डीवसूवमार्जनं—अत्र . अरिक्षये दीक्षासमुचितवर्णनया, शोकाग्नेश्  
चण्डेत्वेन—  
खाण्डवपदोदीरणेन—वीररसस्य अंगिनः सहमेव आगन्तुके करुणरसे  
प्रज्वलिते . . . ।
- 58 पोलस्त्यः प्रणयेन—अनुचितं [सम्प्रदाने] मुनेर् लोकहितप्रवृत्तस्य त्रैलोक्य-  
कण्टकभृताय राक्षसाय भुवनप्रतिपादनम् ।
- 62 तत्र स्थितं स्थितिमतां—सर्वतो - दिग्गमन-अविच्छिन्नप्रसरः प्रतापः  
परिमित्यं प्राप्तः ।
- 81 अत्र वल्कलजुषः—अचेतनानामपि शमसमय-विमल-चित्तवृत्ति' रौचि-  
स्यमुपजनयति ।

अ-कृत्रिमम् अ-सामान्यं [च नाम-किल] लावण्यम् । ३३

अक्लेशेन-अभिप्रायसमर्पकं वाक्यं हृदयमावर्जयति । ३२-

अ-सत्त्वे सत्त्व-स्तुतिः अनौचित्यमावहति ।

एकस्य [ना-ऽति] विपुलाऽशयत्वात्—तृप्तिर् न जाता । द्वितीयस्य तदुपजीव्य-  
मानस्य—न मानागपि खेदः ।—कस्य न उभयोर् लज्जा ? 86-

काव्यगुणेन-अस्पृष्टा सुभटोक्तिः (क्षात्रवृत्तिरिव ओजसा-अस्पृष्टा)  
उचितार्थाऽपि—तेजोजीवितविरहिता—दुर्गतगृह (गता) दीपशीखेव मन्दाय-  
माना न विद्योतते । 13-

दैवन्यस्तविपर्ययः सुखशिखाभ्रष्टः प्र-नष्टो जनः

प्रायस् तापविलीन-लोहसदृशीम् आयाति कर्मण्यताम् । 71

परिपोषविपरीते स्वभावविरोधिन्यपि प्रधानाऽनुपरोध एव । 47-

प्रततोत्सव—बहुजन-भोजनपक्तौ अ-परिज्ञातः—स्वयमिव मध्ये-समुपविष्टः,  
पश्चाद्-अभिव्यक्तः—परं लज्जादुर्मन-औचित्यं प्रतनोति । 72-

प्रसन्नमधुरधीरा हि वीरवृत्तिः । 30-

लावण्यपेशलतनूर् ललनव परुषभाषिणी, झटिति, अनौचित्यं चेतसि  
संचारयति । 14-

विद्यानामेव सर्वसम्पत्प्रसविनीनां क्लोद्धरणक्षमत्वं, न अन्यस्य । 84-

विरुद्धस्य परिपोषाभावात् । 45-

वीरस्य क्रोधे विकाराऽसंभवात् । (प्रसन्नमधुरधीरा हि वीरवृत्तिः ।) 30-

शृङ्गारकरुणबीभत्साः शान्तमुखप्रेक्षिणः संलीनतया—स्तिमितवृत्तयो भृत्या  
इव—परमौचित्यं दर्शयन्ति । 46-

संकट-स्वभावस्य हि विकटत्वं (विस्तीर्णत्वं) नोपपद्यते । 74-

(न पीयते काव्यरसः पिपासितैर्) इति—सर्वमेतद् दारिद्र्य (दैव्य)  
विद्रुतधैर्यं—कातरतया तत्त्व-रहितं विपरीतमुपन्यस्तम् । 84-

सत्यं च नित्यं च यत् । 71

सारसंग्रहवाक्येन काव्यार्थः—(फल) निश्चितः

अदीर्घसूत्रव्यापारो—(ननु) कस्य न संमतः ? 34 3४

स्वभावे संकटत्वम्, आकारे च विपुलत्वं (निश्चेतनस्य)—स्वभावाऽभावाद्—  
नोपपन्नम् । 68-

स्वयमाद्रस्वभावः परमपि आर्द्रीकरोति । 89-

हृदयसंवादसुन्दरमपि अनुचितत्वेन सहसैव चेतसि संकोचमिव आदधाति । 18-

## L. औचित्याय साप्तपदीनाय

—an Aucitya thesaurus—

(a)

1. निरौचित्यमात्रकम् । अनौचित्यरजसा स्पर्शः । अनुचितेन प्रवृत्तिः । परमनुचितम् । विगर्हितं च । —इति अनौचित्याः प्रातिपदिकनि पञ्च ।
2. औचित्यं, पुनः,—
  - a. उचिताऽनुचित-बोधेन अ-संपृष्टम्, आदौ, शिशुरिव; अनौचित्य-परिहारेण वा, मुहूर्त्, यावत् पूर्वं-वयसि, अनवस्थिरम्; अकृत्रिमनलंकृतं परस्तात् 'सदृशं किल यस्य यत्'-स्वभावेन, उत्तरीयांशुकेनेव, मनाग्-आवृतम् : —अ-परिज्ञातं (शकुन्तलेव) स्वयं-राजते ।
  - b. अनन्तरं, पयोधरविस्तारयित्रा यौवनेन-इव सार्धमद्यच्छत् > उद्गिरत् > स्फुटत्वेन-स्फुरत्, तद्—दृष्टसमकालमेव-स्निग्धं द्रष्टुर् हृदय-मात्रं जयति । . . .
  - c. किमपि उन्मिषति, आमोदते, 'सर्वथा पुरऽ-इव परिस्फुरत्... हृदयमिव प्रविशत्... सर्वाङ्गीणमिव आलिङ्गत्... अन्यत् सर्वमिव तिरोदधन्' अभि त्मनं व्यनक्ति ।
  - d. परमौचितो हि सकृदुक्यभावं-गतस्य निर्भिद्यमानस्य, संक्राम्यन्ती, अभ्युदयपरम्परा—
  - e. यां किल जना अद्भुतमिति गृह्णन्ति
  - f. संविद्य—तत्त्वोन्मीलनेन—उभयोरपि तयोर् दृग्-दृश्ययोर् एकात्म-भावेन ।
3. अनवकाशाद्धि, अत्र, पर्याय-अनुप्रास-अर्थान्तरन्यासाऽदीनां निरर्थक-निरूपयोग विरुद्धार्थ-विरसानाम्, अनु : संद्वियन्ते विषमानि, आद्वियन्ते सुषमानि, विद्वियन्ते सामानि । प्रकृति-संवादित्वाच्चाऽस्य—चेतसः 'खं ब्रह्म'-विकाशनी क्रिया सा काऽपि प्रवर्तते अन्तर्भूम्याम् ।
4. औचित्यस्य-हि 'कविः—कवेस्तद् मुख्यं कर्मेति—यत्नेन रक्षां कुर्याद् (गर्भिणीव) अभिचाकशन्' इति आशशंसिरे आचार्याः, 'येन हि त्मनः सदृशीं प्रतिपत्तिं कामपि औचितो संप्र'त्ताम् "तां स्वैरं गवामुपनतां" दृशोर्-माध्यमिकयेति ।'
5. 'असत्त्वे सत्त्वस्तुति'-प्रत्याख्यानानेन, उतापि, औचित्यम् आत्मनः सत्त्वात्रा-ऽनुग्रहिणीं वृत्तिं ('संहारे' अश्वत्याम्नः स्थेमानमिव) प्रतिज्ञापयति । नि च अन्तर्गच्छति, संसूत्रयत्, अंगमंगं काव्यस्य-उत-अध्ययुः—अद्वैते-निष्ठया ।

इमां खलु निष्ठां—कवेश्वर-रसिकस्य च—नाम्ना-अर्धाङ्गीकारं (पाणिग्रहेण-यावत्), कलासु, आमनन्ति अपरे ।

6. अथ सहृदयेषु अन्तर्मयं-गमि (मृत्तिकासु नि-उत्पन्नं वाव बीजं) तत् संचारयति भाववृत्तमिव किं-स्विद् अद्भुतं—वीप्साभिर् अनंग-मन्मथ-क्रियाणाम् । संवीतं समवायं-करणम् इत्थम्, इदं तद् औचित्यम्—अंगेभ्यः समुत्थाय अंगेष्वेव अन्तरंगतामुपगतम्—उदियत् 'प्रथमः सर्ग' इव, अ-प्रतिगामित्वात्—स्थायिभावो-व अञ्जनम्!

7. व्युत्पत्त्या—अ-च्युतम्=उचितम्=अञ्जनम् इति : 'नित्यं च सत्यं च यत्' इति तुरीये विश्रमिष्यस् 'तिस्रो देवीर् मयोभुवः (कामस्य)' । किं वा-अत्र अन्तर्मये तिरस् तद् दधीत—तं शमभावं, तां स्थितप्रज्ञतां, नेत्रयोस्तां लेखां, प्रकृतिरञ्जनं वि-रजं तद्... अञ्जनम् ?  
सेम् सुषुम्णा : निकामे-निकामे कमला, कामिनी, कान्ता, कान्तिः । अंगेष्वंगेषु अंगिनी = अंगना, अञ्जना : समम्-उपस्कुर्वाणा—क्षरेषु-अंगेषु (अंगित्वा-धायकम्-अन्तर्यामि) अक्षरम्-अनंगमिति—काव्यस्य जीवित-भूता !

—तस्मा अञ्जनाय नऽ इयं नीराजना ।

(b)

तेषु-एव (नगराऽर्णव-वर्गनाऽदीनां) संनिवेश-प्राशस्त्यम् अलंकारऽ इति । तदुक्तम् :—

ओचित्यं वचसां प्रकृत्यनृगतं, सर्वत्र पात्रोचिता

पुष्टिः स्वाऽवसरे रसस्य च, कथामार्गं न-चाऽतिक्रमः,

शुद्धिः (प्रस्तुत)संविधानकविधौ, प्रीद्विश्च शब्दार्थयोः

विद्विद्धिः परिभाव्यतामवहितैः ।—एतावदेवा जस्तु नः ॥

—यशोवर्मणः, 'रामाभ्युदय'-प्रस्तावनायाम् ।

सो, ७००-८०० में 'ओचित्य' की शब्द-दृष्टि भी उदित हो चुकी थी (कालिदास के 'आपारितोषाद् विदुषां' की भांति ! ) ।

(c)

अर्थो गिराम् अपिहितः-पिहितश्च सम्यक्

—प्रीतिं तनोति [मरहट्टवधूकुचा-भः ।

नो गुर्जरीस्तनऽ-इवा' तितरां-निगूढः,

ना ऽध्रीपयोधरऽ-इवा 'तितरां-प्रकाशः] ॥

## M. औचित्य और वक्रोक्ति

भारतीय आलोचन-परम्परा में यदि कोई आचार्य क्षेमेन्द्र के कुछ निकट पहुंच सका है, तो वह है (१००-१०००) — वक्रोक्तिकार कुन्तक। अलंकारों के अन्तर्यामि-सूत्र वत्, (आद्याजलंकृति के रूप में) वक्रोक्ति का प्रथम-आभास कुन्तक को ही हुआ था; किन्तु गम्भीर अनुचिन्तन ने उसे काव्य के सम्पूर्ण अंगों पर व्याप्त कर दिया। सो, परिणाम यह है कि कुन्तक की पदवक्रता में और क्षेमेन्द्र के पदौचित्य में विभाजक-रेखा प्रायः नहीं दीखती : क्षेमेन्द्र की ही भांति, (शायद आनन्दवर्धन की भांति ज्यादा) कुन्तक ने भी वक्रता को वर्ग-विन्यास में; पद-पूर्वार्ध में—पद-परार्ध में, धातु में—प्रत्यय में; वाक्य-प्रकरण-प्रबन्ध में—काव्य के सभी अंगों में प्रतिष्ठित पाया।

‘वक्रोक्ति’ से अभिप्रेत ‘स्वाभावोक्ति’ का कोई विरोधी अलंकार नहीं होता : अत्र हि केवल—प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य अन्यथा-इव उच्यते अर्थः। अन्यथेवेति किम् ? —वैदग्ध्य-भंगी-भणित्वाति, पर्यायेण, लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्। न-ही कुन्तक को—स्वभावोक्ति का, एक ओर, और उपमादि-अन्य का, दूसरी ओर, अलंकार-विभाजन इष्ट था।

काव्यांगों में ‘सर्वातिशयेन-अभिव्याप्ति’ की अन्तर्दृष्टि में ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के ‘कोण प्रायः समकक्ष हीं दीखते हैं : भेद केवल इतना ही कि क्षेमेन्द्र के वर्गीकरण में ‘काव्याङ्गेषु च’ पर बल का अर्थ स्पष्ट है कि ‘औचित्य का विलास काव्य में एवं काव्यांगों में कवि-हृदय की अन्तर्लीला की ही कुछ (टिमटिम-किन्तु-शान्त) फुरती झांकियां हैं, निःश्वास हैं।’

वक्रोक्ति-ही का नहीं, काव्य मात्र का, उद्भव—अभिधा का स्थूल-जगत्-त्याग—‘अनभिहिते’ लोके (लक्षणा-व्यञ्जना-तात्पर्य द्वारा) प्रवेश के साथ-ही शुरू हो जाता है :

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते

वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्याम्—अतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥

हां—वक्रोक्ति स्वयं वक्ता को भी (शायद कवि को भी) ‘like an irony’, तलाक देती-हुई सी नये ऊद्यम ला सकती है : ‘it comes up from the Unconscious and—vicariously !’

संस्कृत साहित्य-एवं-शास्त्र के उत्तराधिकारी (जैसे कि वे क्षेमेन्द्र की दिशा भी नहीं पकड़ पाये थे) वक्रोक्ति को (राधा के) उपालम्भ तक ही सीमित करके रह गये प्रतीत होते हैं।

## N. Additional Notes

- १ अंजनस्य हि—अंगादंगाद्-असंभवित्वात्, क्रियाकल्पेन स्वस्मिन्-उपात्तत्वात्—  
अनंगता (cf. 103) सिध्यति; न अन्यस्य ।  
वञ्चने-दृष्टिर् हि सा आत्मनऽ-ओचित्येन, सम्पस्कृत्य, अभिजातमनसाम्-  
अन्तर् विजयते :—  
स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया  
विच्छित्त्या हृदये ऽभिजातमनसाम्-अन्तः किमप्युल्लिखत्  
आरूढं रसवासनापरिणतेः काष्ठां कवीनां परं  
कान्तानां च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः ॥
- ७ 'सदृशं किल यस्य यदिति' लक्षणिकया वस्तुनो वि-लक्षणतां कामपि  
उद्भावयति—अम्लाना वि-लक्षणी—कवीनाम् दृक् ।  
सादृश्याद् लक्षणा वक्रोवितरिति कुन्तकः । तत्राऽपि पुनः संवृति-वक्रता भवति  
—विवृति-पदे सह-धर्मिणीव । एतद्धि परस्तात् सूरदासादिषु कूटमिति आचख्ये ।
- ७ सादृश्यम् = सह-दृष्टिः = साहित्यम् = समदृष्टि-ता वा समष. म् (ओचित्येन)  
मूलम् । तत्र प्रमाणानि—  
i. आनुमानिकमपि एकेषां शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेर् दर्शयति च ।  
(ब्रह्मसूत्रम् १.४.१)  
ii. अनुरूप (स्थान) निवेशनमपि वैदग्ध्यजननम् । (यशोधरः)  
iii. कामनीयकं [हि]—अनतिवर्त्तमानस्य । (आनन्दवर्धनः)  
iv. The boys were laughing at the right place. (H.G.Wells)
- १२ (4) वाक्यार्थः सजीवऽ-इव अवभासते—  
अतह टठिए वि तहसंठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ,—  
अथविसेसे सा जअइ विकड कइगोअरा वाणी ॥
- १६ सीधुस्पर्शभयात् (23)—  
पुराना विश्वास है कि वयःसन्धि में प्रतिबुद्ध कोई बाला यदि, मेंही  
लगा कर, बायें पैर से अशोक को बस एक बार लताड़ दे..या फिर अंबवा  
की झुकती डाली पर एक 'तरुण' निःश्वास छोड़ दे..तो उसकी मुराद उसी  
वक्त पूरी हो जाती है :  
पादाघाताद् अशोकः, तिलकवुरबकौ वीक्षणा-र्लिनभ्याम्,  
(स्त्रीणां) स्पर्शात् प्रियंगुः, विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,  
मन्दारो नमंवाक्यात्, पटुमृदुहसनात् चम्पको, वक्त्रवातात्  
चूतो, गीताद् नमेरुर्, विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः ॥  
और कन्या का दोहद फलित होगया—इसका संकेत प्रकृति स्वयं दे देती है :

ये द्रव्य—मौसम हो, न हो—सीधे फूलों से लद जाते हैं !

लेकिन आज हमारे इन्हीं वृक्षों को लकवा मार गया प्रतीत होता है : आज आम बौर देता है, फूल नहीं ; और न-ही बाली-उमरिया में आज वह पुराना जादू कहीं सुन पड़ता है । हाँ, अलक्ता, एक बात है जिस का प्रत्यक्ष आज भी हर कोई कर सकता है :

राह-जाती किसी क्वारी को कोई मनचला छेड़ दे, और लड़की के होश-मज्जाक कायम रहें : छोकरे के सिर पर एक ही सैण्डल काफ़ी है—बेहया खिलखिला उठेगा (कुछ तो इज़्जत हुई)—सनम से मिली हर-चीज तोहफ़ा है । कभी फ़ितरत और कुदरत भी बदला करती है ? हंसी ही एक ऐसी चीज़ है दुनिया-भर (की जुबानों के मुहावरों) में जिसके, अंकुर नहीं, फूल ही झड़ते हैं । एक प्रत्युदाहरण (94) में क्षेमेन्द्र की 'स्वानुभूति' भी यही प्रतीत होती है : वारावहारेण ...कामुको अ-शोकी कृतः (हृत-शल्यः कृतऽ इति वा ! ) ।

पैरों की लाली, बांकी नज़रिया, बेमतलब मज्जाक, गुनगुन, इठलाना ... कामिनी के ये दस बाण हैं ; और अ-शोक, मन्दार, कर्णिकार—उधर 'पहली-नज़र में ही मारी गयी' जवानी की दस दशाएं हैं, दशाज्वतार (-चरित) हैं : 'जवां-दिल मर-कर ही जिन्दा रहा करते हैं' ! संस्कृत कवि-गम्प्रदावों और अन्योक्तियों में रस सदा इसी 'अपुरुष-विध-ता' के आरोप का होता है ।

34 किरातैः— i. where to go now ?

or ii. where to spend the night ?

or iii. brought to bay, entrenched.

37a. कृशः कणः खंजः (37), भोगे रोगभयं (40), तद्यो न तप्तं (92)— ये तीनों श्लोक भर्तृहरि-त्रिशती में मिलते हैं ; किन्तु क्षेमेन्द्र उन्हें, क्रमशः— चन्दक का, मम (११ वीं सदी), तथा परिव्राजक का कह कर उद्धृत करते हैं । भर्तृहरि वा काल क्या था ?

37b. जुगुप्सा का भी 'अपना' गौरव होता है : एक ही पद का परिहार-आहार किस प्रकार चीज़ का रूप ही बदल देता है : इसका एक 'परम्परित' उदाहरण (जो हमें अन्यत्र किसी भी भाषा में नहीं मिला, संस्कृत में भी नहीं) :—

दिल ते आ' दा ए—घत्त-द्विवाई  
गल विच हार फुलां दा पो' के ।

दिल ते आ' दा ए—चीर-फड़ाई  
सिर ते लब लकड़ां दा ढो के ।

दिल ते आ' दा ए—ठोक-बजाई (कर के पुट्टा)  
बट तेरे ते कोके ।

२९ अत्र बल्कलजुषः (81) — मन की शान्ति व्रत-साधना से सिद्ध नहीं हुआ करती; एक शान्त मन ही, उलटे, स्वभावतः—गूहे-वा ऽरुप्ये-वा—व्रती होता है : cp. these two unforgettable anecdotes :—

- i. एक भले आदमी ने दुनिया के प्रलोभनों से मुक्ति पाने के लिए वानप्रस्थ ले लिया ।

रात होती, और एक कुहूमुखी आकर अपना राग छेड़ देती ।

साधुजी ने भी युक्ति सोच ली । कोयल आत्मविस्मृति में, अगले दिन, अपना सर्वस्व उंडेल रही थी—जंगल में मंगल ला रही थी, कि योगी जी ने फूस की कुटिया को, बाहर से, बन्द कर दिया और आग लगा दी ! लोगों ने आकर पूछा—‘क्या हुआ ? यह आग कौन पापी लगा गया ?’ ‘मैंने लगाई थी; और किसने ? कुटिया गई तो क्या हुआ; कोयल का तो कक्ख न रहा । मैं खुश हूँ ।’

- ii. बहावलपुर में एक पीर रहा करते थे । मुसलमान थे । एक हिन्दू व्यापारी तीर्थ, व्यापार के लिए बाहर जाते हुए पीर साहब से आर्शीवाद लेने आया और अपना घर उन्हीं के सुपुर्द करता गया ।

इस अर्से में पीर साहब खुद, दिन में एक बार, उसके घर जाते और जो काम शहर का होता, सती के लिए, कर आते; किसी चले से उन्होंने कुछ नहीं करवाया ।

महीनों बाद जब यह भक्त व्यापारी घर लौट रहा था, वह दूर से क्या देखता है—कि पीर साहब के कन्धे पर एक पुराना चर्खा है और वो बन्द दर पर, बाहर, चुप इन्तजार में खड़े हैं । उसका सिर श्रद्धा से झुक गया ।

कुछ महीने और बीत गये । व्यापारी, एक नया मकान बनवाकर, गृह-प्रवेश के लिए फिर उसी विभूति के कदमों में हाज़िर हुआ । पीर साहब अपने सारे ‘कुल’ समेत पहुंचे । बतासे बांट गये । एक बतासा पीर साहब ने भी थाली से उठा लिया; उसी वक्त एक मुहम्मदी ने अदब से जताया—‘पीर साहब आज तो रमजान हैं; आप का रोज़ा है ।—;’

—‘रोज़ा तोड़ा जा सकता है, एक प्यारे का दिल नहीं’ ओर पीर साहब ने बतासा मुह में डाल लिया ।

And, here, cf. K. on ‘शिव-शिव-शिवेति प्रलपतः’ at 42.

३२ अभिप्रायसमर्पकम् : what in the (prehistoric ?) लक्षण—Age of Indian Rhetorics was probably known as मनोरथ :—

हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।  
अन्यापदेशः कथनम्—मनोरथ इति स्मृतः ॥

अकदर्शनया सूक्तम्, cf.—

- i. कुन्तक : व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि—प्रस्तुताथौचित्यपरिहाणः—  
वाच्यवाचकयोः (परस्परस्पर्धित्व-लक्षणः) साहित्य-विरहः पर्यवस्यति
- ii. Aristotle's 'perspicuity with propriety' or the sense for  
'clear but, at the same time, not-vulgar'.
- iii. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या । (बाणभट्ट)

३३ अ-कृत्रिमम् अ-सामान्यं [हि] लावण्य [स्य लक्षण]म्, cf.—

i. Lamborn :

On the high road near my house is a row  
ancient cottages falling into decay, dark and dirty, an  
really-unfit for human habitation; in the daytime a  
eyesore and a reproach. Yet, at night, when the beam  
of powerful car-lights fall on their tall fronts, they are  
transfigured and—glow with a strange and weird beauty  
like the glamour of a dream.. ..Art can make sad things  
beautiful, and sordid things wonderful.

ii. रजसस्पतिः—

न कृताऽलं मे ऽद्य गीतिर्—

भूषणैर् वसनैर् विहीना ऽलंकृता नो, ऽहं-कृता नो, झन्-कृता नो..

—अन्तरा त्वां मां च, देव, भूषणा नो धान् व्यवा चित् !

.. ..मन्दमन्दं यद् वदासि तत् शृणोमि सुखं यथोक्तम्

—ना ऽद्य भूषा क्रेङ्कणीति ॥

त्वन्मुखे ह्यी-संनतं मे नश्यतीव कवेर् घ मानम् ।

भोः कविन्तम, ते पदोरित् आश्रिताऽहं : तत्, प्रसीद—

वंशिकेवा ऽहं ऋजुः स्याम्.. ..स्वर्मयीं मा ऽन्तर् भरः स्वः

—देव, गीतं मां करः, स्वः .. ॥

३५ अशोकी-कृतः (94), read with note on १६ (23), ante.









